ASMBHAV KUCH NAHI SAB
SAMBHAV HA G.K.V.

॥ ओ३म् ॥

असम्भव कुछ नहीं है, सब सम्भव है

१—सत्यमेव जयते नानृतम सत्य ही जीतना है झूठ नहीं। एक आत्मा को जानो और दूसरी सारी बातें छोड़ दो। यही सत्य हैं।

२—यह डर से मेहर आ चमका, अहाहाहा, अहाहाहा। उधर महाबीम से लपका अहाहाहा, अहाहाहा। हवा अठखेलियां करती है, मेरे इक इशारे से। है कोड़ा मौत पर मेरा अहाहाहा, अहाहाहा।

३—निर्भयता, जीवनमुक्ति, साम्राज्य, स्वराज्य और किसी को कभी भी नहीं नसीब होते सिवाय उस पुरुष के जो अपने आपको संशयरहित होकर पूर्णब्रह्म, शुद्ध सच्चिदानन्द नित्यमुक्त जानता है। जो सर्वत्र अपने ही स्वरूप को देखता है क्यों हिलेगा। उसका दिल जो एक आत्मदेव बिना कुछ और देखता ही नहीं। तारे टूट पड़े, समुद्र जल उठे, हिमालय उड़ता फिरे, सूर्य मारे ठंड के बर्फ का गोला बन जाय, आत्मदर्शी ज्ञानवान को क्या हैरानी हो सकेगी। जिसकी आज्ञा से कुछ भी बाहर नहीं हो सकता।

४—जो यहां नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। ओ प्यारे, मेरे अपना आप द्वेषातुर मूर्ख। जितना औरों को चने चबवाने चाहता है, उतना अपने ताँई ब्रह्मध्यान की

खाँड खीर खिला। वैरी का वैरीपन एक दम उड़ न जाय तो सही। जो तुम्हारे अन्दर है वही सबके अन्दर है।

५—किसी ने कहा—लोग तुम्हें यह कहते हैं, वे कहते हैं ओ भोले महेश। तू इन बातों से अपने तकले में त्यंग मत पड़ने दे। तू एक न मान, ब्रह्म बिना दृश्य कभी हुआ ही नहीं। चित्त में त्याग और ब्रह्मानन्द को भर तो देख, सब बालायें आँख खोलते-खोलते सात समुद्रों पार न वह जाय तो मुझको समुद्र में डुबो देना।

६—तुम वही हो। तुम्हारे भय से सूर्य कांपता है, पवन चलती है, तुम्हारे खौफ से समुद्र उछलता है, तुम्हारे खौफ से मौत मारी-मारी फिरती है।

७—जब सर्वात्म दृष्टि हुई तब रोग दुःख और मौत पास नहीं फड़क सकते।

८—प्रतियमान वैरी विरोधी निन्दक लोगों को क्षमा करते हम इतनी देर भी न लगाये जितना श्री गंगाजी तिनकों को बहा ले जाने में लगाती है या आलोक किरणें अन्धकार को हटाने में लगाती हैं।

९—अहाहाहा ! अच्छे बुरे पुरुषों में जब हमारी जीव दृष्टि उठ जाय और उनको ब्रह्म रूपी समुद्र की लहरें जान लें तो राग-द्वेष की अग्नि बुझ जायगी।

१०—जब मनुष्य और पदार्थ सचमुच अपना ही रूप जाने गये तो यह धड़का कैसे हो कि हाँ जाने अमुक पुरुष मुझे क्या कहता होगा।

११—शरीर आदि की पीड़ा, सम्बन्ध, लोगों की ईर्षा, द्वेष, सेवा समान से मुझे क्या ? कोई बुरा कहे, कोई भला कहे, मैं एक नहीं मानूंगा। मुझ में कोई पीड़ा नहीं, कोई शोक नहीं, राग नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं।

१२—कुतुब अगर जगह से टले तो टल जाये। हिमालय वाद की ठोकर से भी फिसल जाये। अगरचे बहर भी जुगनू की दुम से जल जाये और आफताव भी कब्ले उरुज ढल जाये। कभी न साहबे हिम्मत का हौसला टूटे। कभी न भूले से अपनी जबी पै वल आये।

१३—भयंकर भावि की भिनक पाकर बगुले की तरह गर्दन उठाकर घवड़ाकर क्या-क्या क्यों करने लगे? आनन्द से बैठ मेरे यार। वहां कोई और नहीं है। तेरा ही परम पिता बल्कि आत्म-देव है।

१४—छोड़ दो शरीर की चिन्ता को, मत रखो किसी की आस, परे फेंको वासना, कामना, एक आत्म दृष्टि को दृढ़ रखो, तुम्हारी खातिर सबके सब देवता लोहे के चने भी चबा लेंगे।

१५—जब देखो कि चिन्ता, क्रोध, काम घेरने लगे हैं तो चुपके उठकर जल के पास चले जाओ। आचमन करो, हाथ मुँह धोओ या स्नान ही कर लो। अवश्य शान्ति आ जायगी और हरि ध्यान रूपी क्षीर सागर में डुबकी लगाओ। क्रोध के धुएं और भाप को ज्ञान-अग्नि में बदल दो।

१६—वृत्ति तब तक एकान्त नहीं हो सकती, जब तक मन में कभी यह आशा रहे और कभी वह इच्छा। शान्त वह हो सकता है जिसे कोई कर्त्तव्य और आवश्यकता खींच घसीट न रही हो। इसलिए जीने तक की आशा को भी त्याग कर मन को ब्रह्मानन्द में डाल दो। आज ही से समझ लो कि यह शरीर है ही नहीं और ब्रह्मानन्द के सागर में शंकारहित होकर कूद पड़ो।

१७—हे प्रभो! अब तो मुझ से दो-दो बातें नहीं निभ सकती। खाने-पीने कपड़े कुटिया का भी ख्याल रखूं और दुलारे का भी मुख देखूं। चूल्हे में पड़े खाना, पहनना, जीना, मरना। क्या इनसे मेरा निर्वाह होता है?

१८—मैं इन बुद्धियों का प्रेरक आत्मदेव हूँ, मैं तो वही हूं किसका तेज सूर्य और चन्द्रमा में चमक रहा है।

१९—जब सर्व देश आत्मा में पाने लगे तो परोक्ष क्या रहा ? और स्थान सम्बन्धी चिन्ता क्यों कर उठे। जब सर्वकाल में अपने तईं देखा तो कल परसों आदि की फिकर कहां रही।

२०—क्या सोचे, क्या समझे राम, तीन काल का क्या काम ? क्या सोचे, क्या समझे राम तीन लोक नहीं उपजा धाम। नित्य तृप्त सुखसागर नाम, क्या सोचे क्या समझे राम।

२१—अपने मजे की खातिर गुल छोड़ ही दिये जब। रूयें जमीं के गुलशन मेरे ही बन गये सब। जितने जबां के रस थे, कुल तर्क कर दिये जब बस जायके जहां के मेरे ही बन गये सब। खुद के लिये जो मुझ से दीदों की दीद छूटी। खुद हुस्न के तमाशे मेरे ही बन गये सब। निजकी गरज से छोड़ा सुनने की आर्जू को। अब राग और बाजे मेरे ही बन गये सब। अपने लिए जो छोड़ी ख्वाहिस हवा खोरी की, वादे सबाके झोंके मेरे ही बन गये सब। जब बेहतरी के अपनी फिक्रो ख्याल छूटे। फिक्रो ख्यालरंगी मेरे ही बन गये सब। अहा। अजब तमाशा मेरा नहीं है कुछ भी दवा नहीं जरा भी इस जिस्म इस्म पर ही। ये दस्तो पा है सबके, आँखें ये हैं तो सबकी दुनिया के जिस्म लेकिन मेरे ही बन गये सब।

२२—हम सब में एक ही आत्मा व्यापक है, हम एक ही समुद्र की तरंगें हैं।

२३—शरीर तो मैं नहीं हूं। मैं वह हूं जिसका अन्त वेद भी नहीं पा सकते।

२४—जिसको इस बात का विश्वास है कि मेरे भीतर आत्मा विद्यमान है तो फिर वह कौन सी ग्रन्थि है जो खुल नहीं सकती। फिर कोई शक्ति ऐसी नहीं जो मेरे विरुद्ध हो सके। जब मैं ही

हूं तो मैं सबका स्वामी हूं और जो चाहूं सो कर सकता हूं।

२५—अगर कोई बीमारी हो जायगी तो केवल विचार शक्ति से उसको भगा देंगे। यही शक्ति यकीन है यही विश्वास है।

२६—तैंतीस करोड़ देवी देवताओं को भले ही माना करो, परन्तु जब तक तुममें भीतरी शक्ति जोश न मारेगी, तब तक तुम्हारा कुछ भला न होगा। जिस समय तुम्हारे भीतर का आत्म-बल जागेगा तो सारे देवता भी अपनी सेवा के लिए हाथ जोड़े खड़े पाओगे। अभी तुम उनको मानते हो फिर वे तुमको मानेंगे।

२७—श्रेय या फर्ज तो कहते हैं दे दो त्याग, लेकिन पेय या गर्ज तरगीन देती है। ले लो यह हमारा हक है, अधिकार है। दुनिया में अपने अधिकार पर जोर देना सुगम है किन्तु अपने फर्ज को पूरा करने पर जोर देते चले जायँ तो हमारे अधिकार हमारे पास स्वयं आवेंगे।

२८—यह हमारे भाग्य में नहीं था, ईश्वर की इच्छा, आज-कल गुरु नहीं मिल सकता, अच्छा सतसंग नहीं दुनिया बड़ी खराब है। ऐसे बचन हमारे कायरता और अन्तःकरण के मलिनता के कारण से उठते हैं।

२९—अगर सब कुछ कहीं बाहर की ही प्रारब्ध से होता तो शास्त्र विधि-निषेध के वाक्यों को जगह नहीं देता।

३०—मैंने माना दहर को हक ने किया पैदा वले। मैं वह खालिक हूं मेरी कुन से खुदा पैदा हुआ।

३१—चर्म चक्षु से दृश्यमान सूरत को भूलकर ब्रह्म में मग्न होना यही उपासना है।

३२—समदृष्टि तब होगी जब लोगों में भलाई बुराई की भावना उठ जाय समदृष्टि होने से सम-धी और समाधी होगी।

३३—जब तुम अन्दर वाले से बिगड़ते हो तो जगत तुम से बिगड़ता है जब तुम अन्दर के अन्तर्यामी रूप बन बैठे तो जगत-रूपी पुतलीघर में फिर फसाद कैसा ?

३४—जब तुम दिल के मकर छोड़कर सीधे हो जाओ तो तुम्हारे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल उसी दम सीधे हो जायेंगे ।

३५—जब लोग चर्म की तरह आकाश को लपेट सकेंगे तब देव को जाने बिना दुःख का अन्त हो सकेगा ।

३६—जो यह देखता है कि "यह सब कुछ आत्मा है" वह न मृत्यु को देखता है न रोग को और न दुःख ही को । ऐसा देखनेवाला सब वस्तुओं को देखता है और सब प्रकार से सब वस्तुओं को प्राप्त होता है ।

३७—आपत्तियां पर्वत जैसा भले ही दीखें, चाहे सब जगह अंधेरा दीखे, ऐसा जान पड़े कि इससे बच कर निकल नहीं सकते फिर भी मत डरो, भाग जायगी कुचलो लुप्त हो जायगी, ठुक-राओ मर जायगी ।

३८—करोड़ों दुःख रूपी किटाणु आस पास क्यों न घूमते रहें, मत डरो । उनकी हिम्मत नहीं कि तुम्हारे ऊपर आक्रमण करें । अगर तुम्हारे मन में भय नहीं है ।

३९—मनुष्य की करी हुई निन्दा-प्रशंसा में विश्वास मत करो । ये सब चीजें गुमराह करती हैं और धोखा देती हैं ।

४०—बाहरी सुखों से कहो शैतान मेरे आगे मत आ, मैं तुझ से कुछ नहीं चाहता ।

४१—भजन करते समय निर्लज्ज चित्त में मकान के, अपने मान, अपनी जान के ध्यान आ जाते हैं । मूर्ख को इतनी समझ नहीं कि ये चीज़ें चिन्तन योग्य नहीं, चिन्तन योग्य तो एक प्रभु है ।

४२—ब्राह्मणत्व उसको परे हटा देता है जो आत्मा से इतर ब्राह्मणत्व को जानता है। क्षत्रित्व उसको परे हटा देता है जो आत्मा से अन्य क्षत्रित्व को जानता है। लोक उसे परे हटा देता है, जो आत्मा से इतर लोकों को जानता है। देवता उसको परे हटा देते हैं, जो आत्मा से अन्य देवताओं को जानता है। वेद उसको परे हटा देता है, जो आत्मा से अन्यत्र वेदों को जानता है। प्रत्येक वस्तु उसे परे हटा देती है, जो प्रत्येक वस्तु को आत्मा से अन्यत्र जानता है। प्राणी लोग उसे हटा देते हैं अर्थात् दुतकार देते हैं जो प्राणियों को आत्मा से अन्यत्र जानता है।

४३—यह ब्राह्मणत्व, यह क्षत्रित्व, ये लोक, ये देव, ये सब प्राणी, ये सब वस्तु वही हैं जो कि यह आत्मा है।

४४—भाई। समाधि और मन की एकाग्रता तो तब होगी जब तुम्हारी तरफ से माल, धन, बंगले, मकान पर मानो हल फिर जाय; स्त्री, पुत्र, वैरी, मित्र पर सुहागा चल जाय; सब साफ हो जाय; राम ही राम का तूफान आ जाय; कोठे दालान सब बहा ले जाए।

४५—जो भी कोई शिव की उपासना करते हैं, वे धनवान हो जाते हैं और लक्ष्मीपति विष्णु के उपासक निर्धन रह जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन लोगों के हृदय में शिव का रूप त्याग और वैराग बसा है। ऐश्वर्य, धन, सौभाग्य उनके पास स्वयं आते हैं और जिन लोगों के अन्तःकरण लक्ष्मी, धन, दौलत की लाग में मोहित हैं वे दारिद्रय के पात्र रहते हैं।

४६—"मैं सब कुछ कर सकता हूं" ऐसा उच्च विचार, निरन्तर उद्योग और धैर्य रखना चाहिये।

४७—आँखों वाला केवल वही है, जिसकी दृष्टि बाह्य जगत को चीर कर पदार्थों की स्थिरता पर न जमकर और लोगों की धमकी और प्रशंसा को काट कर एक तत्व पर जमी रहती है।

४८—ऐ दिल। तू अपना परदा आप है बीच से उठ जा। धीर पुरुष इस संसार से मुँह मोड़कर अमृत को पाते हैं।

४९—सारी शक्ति निर्भयता से पैदा होती है। इसलिये बिल्कुल निर्भय हो जाओ। फिर तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा।

५०—मुझ से पहले न जगत था यह, मैं ही संसार बनाता हूं। इस नील उदधि के अन्तर से, मैं नभ में सूर्य सजाता हूं। अपने कटाक्ष संकेतों पर, मैं शशि को सदा नचाता हूं। अपने इस अद्भुत कौशल की मैं तुमको बात बताता हूं।

५१—अपने कार्य को लड़खड़ाते मजदूर की तरह न करो। राजा की तरह आनन्द प्राप्ति के लिए मजेदार खेल के रूप में करो। किसी काम को डरते घबराते हुए मत करो। तारों की तरह हंसते, खुश होते हुए काम करो।

५२—परिस्थितियों के कुहरे और बादल को अपने ऊपर क्यों छाने देते हो। क्या तुम सूर्यों के सूर्य नहीं हो ? क्या तुम इस ब्रह्माण्ड के स्वामी नहीं हो। ऐसी कौन सी परिस्थितियां हैं जिन्हें तुम हटा नहीं सकते किसी भी खराब से खराब परिस्थिति को ज्यादा वास्तविक मत समझो। तुम निर्भय हो ! निर्भय हो !! निर्भय हो !!!

५३— मुझ में यह भावना भरी हुई थी कि न मैं शरीर हूं, न मन हूं, मैं तो साक्षात ब्रह्म हूं। कोई आग मुझे जला नहीं सकती, कोई अस्त्र मुझे मार नहीं सकता। सर्वशक्तिमान परमात्मा हूं, अनन्त ब्रह्म मैं ही हूं।

५४—बाहर की चीजों में विश्वास करोगे तो तुम असफल रहोगे। यही नियम है।

५५—जब हम दूसरे पर निर्भर करते हैं, दूसरों का भरोसा करते हैं तो हम अपनी आत्मिक शक्ति खो देते हैं। जब हम

अपनी आत्मा में विश्वास करते हैं और आत्मा के अतिरिक्त किसी चीज में विश्वास नहीं करते तब सब सम्पदायें हमारे पास आती हैं।

५६—अपने आप को ब्रह्म समझो तुम सब ब्रह्म हो। अपने आपको मुक्त समझो और तुम उसी क्षण मुक्त हो।

५७—निश्चय समझो कि यदि तुम अपने ऊपर भरोसा रख सकते हो तो कहीं भी सफलता पाओगे, तुम्हारे कुछ असम्भव नहीं है।

५८—सब कान मेरे कान, सब नेत्र मेरे नेत्र, सब हाथ मेरे हाथ, सब मन मेरे मन, मैंने मौत निगल ली, सब भेद मैं पी गया, कैसा तरो ताजा, अच्छा और बलवान मैं हो गया।

५९—जब हम जान लेते हैं कि आत्मा केवल एक ही है। विभिन्न नामों से जितनी शकलें-सूरतें दिखाई देती हैं वे सब हमारी वही वास्तविक आत्मा है। अन्यथा शीश महल के कुत्ते के समान दशा होती है। हमें हमेशा डर लगा रहता है कि यह हमको धोखा देगा वह हानि करेगा।

६०—आंखें बन्द कर लो, दुनिया का पांचवां भाग समाप्त। कान बन्द कर लो, पांचवां हिस्सा और गायब। नाक बन्द करो, पांचवां हिस्सा और गुप्त। अपनी किसी इन्द्रिय से काम न लो तो कहीं कोई दुनिया नहीं रह जायगी।

६१—अपने आपको परिस्थिति का गुलाम मत समझो। तुम अपने भाग्य के विधाता हो। चाहे तुम जिस दशा में हो, वातावरण कुछ भी हो, देह चाहे कारागार में डाल दी जाय, अथवा तेज धार में बहा दी जाय या किसी के पैरों तले कुचली जाय। याद रक्खो "मैं ईश्वर हूं" जो सारी अवस्थाओं का स्वामी हूं। मैं देह नहीं हूं, मैं भाग्य विधाता हूं।

६२—दुनिया मेरा शरीर है। सम्पूर्ण विश्व मेरा शरीर है, जो ऐसा कह सकता है वही आवागमन के बन्धन से मुक्त है। वह तो अनन्त है कहां जावेगा और कहां से आवेगा। सारा विश्व ब्रह्माण्ड उसमें है।

६३—वेदान्त रसायन विद्या के समान प्रयोगात्मक विज्ञान है।

६४—वेदान्त निराशावाद नहीं है वह तो आशावाद का सर्वोच्च शिखर है।

६५—किसी भी प्रसंग को मन में लाकर हर्ष शोक के वशीभूत मत हो जाना। मैं अजर हूं, अमर हूं, मेरा जन्म नहीं, मेरी मृत्यु नहीं, मैं निर्लिप्त आत्मा हूं। यही भाव दृढ़ रीति से हृदय में धारण करके जीवन व्यतीत करना। इसी भाव की निरन्तर सेवा करना और उसी में तल्लीन रहना।

६६—जो शोक, दुःख, प्रलय और महाप्रलय के समय भी छाती ठोक कर अचल खड़ा रह सके ऐसा वीर होना चाहिये।

६७—मुक्ति अथवा आत्मज्ञान यह तेरे ही हाथ में है। यह बात तुझसे विश्वासपूर्वक कहता हूं।

६८—अमुक क्या कहता है क्या नहीं, इस पर यदि ध्यान दिया करें तो कुछ काम नहीं कर सकते।

६९—इसी तरह अच्छे बुरे आदमी और अमीर-गरीब लोग तो तरंगें हैं जिनमें एक ही ब्रह्मसमुद्र ठाठें मार रहा है।

७०—मंगलरूप प्रकाशमय किसका करूं बखान। लहरावत सब देवता मैं हूं सिन्धु समान। मैं हूं सिन्धु समान छिन परिछिन्न विहूनो। साखा दीनी छोड़ मूल को पानी दीनो। धर्मदास ला कैद मुझे नहीं कोई संगल मुझ बिन दूसर कौन करूं मैं किसका मंगल।

७१—शरीर और मन को निरन्तर इतना अधिक कार्य व्यस्त रखो कि श्रम का अनुभव न हो।

७२—चाहे हजारों रूपों में चकित करें, तथापि ऐ मेरे प्यारे! मैं तुझे अच्छी तरह पहचानता हूं, तू अपने चेहरे को चाहे जादू से छिपावे पर मुझसे छिप नहीं सकता।

७३—बाहरी बातों के बारे में सोचकर अपनी मानसिक शान्ति भंग न करो।

७४—वेदान्त के अनुसार सारा संसार आपकी अपनी बनाई सृष्टि है, अपनी कल्पना है, तो अपने आपको दीन और दुःखी क्यों समझते हो। अपने आपको भय शून्य आत्मविश्वासी ब्रह्मरूप क्यों नहीं समझते हो?

७५—जब हम सर्वात्मना तत्पर होंगे, तब तो अपने व्यापक रूप के दर्शन में सफल न होने का कोई कारण ही नहीं रह जायगा।

७६—यह समझ लेने वाला पुरुष आनन्द के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं। किसी भी बात और किसी भी घटना से नहीं डरता। ऐसा जान चुकने वाला पुरुष पाप-पुण्यों को छोड़ कर सदा आत्मा को याद करने लगता है और किये हुए कर्म को भी आत्म रूप ही जान लेता है।

७७—'धीर' हम उसी को कहते हैं कि जब इन्द्रियां विषयों की ओर जाने के जोर जबरदस्ती करने लगें तब भी जो आत्मानन्द के आस्वाद की इच्छा से उन सबको डाट बताकर उसी की चिन्ता में लगा रहे।

७८—वह शरीर को सुख दुःख भोगने देता है और मन से ब्रह्मानन्द को चखता रहता है।

७९—विवेकी पुरुष इस प्रतीयमान जगत को मिथ्या मान लेता है। उसके बाद फिर जब उसे यह जगत भासता है तब

वह इसे इन्द्रियोयाधिक भ्रम समझ कर टालता रहता है। वह जान लेता है कि जब तक ये इन्द्रियां बनी हैं तब तक ऐसी प्रतीति होती ही रहेगी। वह फिर इसको सत्य मानकर कोई भी व्यवहार नहीं करता।

८०—इनमें जो अलग-अलग नामरूप हैं वे निस्तत्व हैं। क्योंकि इनके जन्म और नाश बराबर होते हैं। ज्योंही कोई अधिकारी इस सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्द को बुद्धि योग से देख लेगा (चाम की आँखों से नहीं) वैसे ही धीरे-धीरे इन नाम रूपों की अवहेलना बढ़ने लगेगी और नाम रूप छूटने लगेंगे।

८१—ये नाम रूप ब्रह्म में ऐसे हैं जैसे कपड़े पर कोई चित्र बना दिया गया है। जब कोई उन नाम रूपों की अपेक्षा कर सके तभी उसे सचिदानन्द रूप ब्रह्मतत्व के दर्शन होते हैं।

८२—जगत के दीखने वाले नाम रूपों का परित्याग कर देने पर सचिदानन्द में ही ज्ञानी की ममता हो जाती है। इसी-लिये विवेकी लोग हजारों प्रकार से दीख पड़ने वाले नाम रूपों की उपेक्षा करते रहते हैं।

८३—लौकिक पदार्थ भले ही भासा करें। उनके सत्य होने का वृथा विचार सर्वथा छोड़ दो। जब लौकिक पदार्थों की उपेक्षा कर दी जायगी तब ब्रह्म चिन्तन का काँटा जाता रहेगा। फिर तो बुद्धि ब्रह्म चिन्तन में ही जुट जायगी।

८४—वस्तुतः आत्मा में सुख दुःखादिक तीनों काल में भी नहीं हैं।

८५—जब सारा जगत रज्जु में सर्प की तरह कल्पित है और मिथ्या है तन बंध और मोक्ष पुरुष को कैसे हो सकता है ?

८६—जब सारा विश्व अन्दर है तब बाहर देखने सुनने की जगह कहाँ है। अतः बाहर से देखना सुनना निरर्थक है।

८७—जो कुछ तुम देखते हो सो सब तुम्हीं हो।

८८—लोगों को अच्छे बुरे आचरणों और सम्वादों को अपने चित्त से नितान्त धो डालना चाहिये। इसी प्रकार अच्छे बुरे लोग जो भी मिलें उनकी हमें पूर्ण उपेक्षा करनी चाहिए और अपनी अध्यात्मिक दशा की उन्नति करनी चाहिये।

८९—किसी वस्तु को ईश्वर से बढ़कर मत समझो। ईश्वर के बराबर किसी का भी मूल्य मत करो।

९०—निन्दा-स्तुति और सुख दुख सब के सब एक समान घातक हैं।

९१—यदि हम देहाभिमान को दूर करके साक्षात ईश्वर को अपने शरीर के भीतर से कार्य करने दें तो बुद्ध भगवान या हजरत ईसा हो जाना उतना सहल है जितना कि निर्धन पॉल।

९२—दुनियां नहीं है, संसार नहीं है और सांसारिक जीवों की बातें कुछ नहीं हैं। ईश्वर ही एक मात्र सत्य है।

९३—संसार में कोई पदार्थ नहीं जो मुझे बांध सके, प्रत्येक वस्तु वास्तव में मुझ से उत्पन्न होती है।

९४—अपने पैरों पर आप खड़े हो जाओ, चाहे आप छोटे हों या बड़े, चाहे आप उच्चपद पर हों या नीचे पद पर, इसकी तनिक परवाह मत करो, अपनी प्रभुता का, अपनी दिव्यता का, साक्षातकार करो। चाहे कोई हो, उसकी ओर निशंक दृष्टि से देखो, हटो मत।

९५—अपने आपको औरों की दृष्टि से अवलोकन मत करो, बल्कि अपने आप में देखो। आपका अपना आप आपको बार-म्बार यह उपदेश देगा कि सारे संसार में आप सबसे महान (आत्मा) हो।

९६—ऐ महिलाओं और भद्र पुरुषों के रूप में मेरे अपने आप, ऐ प्रति व्यक्ति रूप में मेरे आत्मन, ऐ सर्व रूपधारी आनन्दमय आत्मन ! प्रकाश का तात्पर्य है सत्य का इतना अधिक

अनुभव कि सर्व दृश्य मात्र देह और रूप शून्य में परिणत हो जायं।

९७—अनुभवी पुरुष के सामने कैसा ही व्यक्ति आ जाय वह उस व्यक्ति के तुच्छ अहंकार या वाह्य शरीर को नहीं देखेगा। वह केवल ईश्वरत्व देखेगा।

९८—चाहे करोड़ों सूर्यों का प्रलय हो जाय, अगणित चन्द्रमा भले ही गल कर नष्ट हो जायं, पर ज्ञानी पुरुष सुमेरु की तरह अटल और अचल रहता है।

९९—ये सब शरीर मेरे हैं ये सब मेरी देह के समान हैं तो लोग भी वैसा ही समझने लगते हैं।

१००—यदि आप अपनी इच्छाओं को पूर्ण करना चाहते हैं, तो आपको उन इच्छाओं को त्यागना चाहिये।

१०१—यदि आप भौतिक रूप को हृदय में स्थान दोगे, यदि आप उसमें आसक्त हो जाओगे, उसे बेहद प्यार करने लगोगे तो आप देखोगे कि अवश्यमेव कुछ अकथ घटना घट जायगी। और उस वस्तु को हर लेगी या परिवर्तन हो जायगी।

१०२—भौतिक पदार्थों में आसक्ति रखना एवं क्षणिक भौतिक पदार्थों को (विषयों को) सत्य समझना ही दुःख दर्द और चिन्ता को लाना है। इसलिये बाहरी नाम रूपों पर अपना समय और शक्ति नष्ट नहीं करनी चाहिये।

१०३—जब कि पृथ्वी ही शून्य मात्र है तब पृथ्वी पर के सारे पदार्थ शून्य रूप ही हैं। इसी तरह जब आकाश भी शून्य रूप है तो आकाश के भीतर जितनी चीजें हैं सब शून्य रूप ही हैं। यथा (पृथ्वी, आकाश, अग्नि, जल, वायु)।

१०४—चाहे यह शरीर शूली पर चढ़ाया जाय या कैद में रखा जाय, चाहे महासागर की विशाल तरंगे निकल जाये, या

अग्नि इसे झुलसा दे अथवा और कुछ बाधा भले ही आ पड़े। पर मेरा दृढ़ निश्चय भंग नहीं हो सकता।

१०५—सारे स्थूल शरीर कठपुतियों के तुल्य हैं। आमतौर से लोग उन्हीं स्थूल शरीरों को वास्तविक रूप से करने वाला स्वतन्त्र और कर्त्ता मानते हैं।

१०६—जब अपने व्यक्तित्व के विषय में सोचना नितान्त त्याग दिया जाय तो इसके समान कोई सुख नहीं, इसके समान कोई अवस्था नहीं।

१०७—आप कोई भी काम करो पर यह न भूलो कि आपका सच्चा स्वरूप परमेश्वर है। 'मैं हूं' 'निर्विकार' है, वही सम्पूर्ण आनन्द है इसे न भूलो।

१०८—ॐ का मतलब है 'मैं हूं' ऐसी दृढ़ भावना से चित्त उस तत्व में निमग्न हो जाता है। अनन्त देश, अनन्त काल, अनन्त वस्तु, अनन्त शक्ति, अनन्त तेज, अनन्त बल मैं हूं।

१०९—इस दुनिया में जो कोई आदमी किसी व्यक्ति या दुनियावी चीज में अपना दिल लगायेगा, उसे तकलीफ उठानी पड़ेगी। या तो वह प्रियजन अथवा प्रिय पदार्थ उससे छीन लिया जायगा या उनमें से एक मर जायगा या उनमें कलह हो जायगी।

११०—सब चित्रों के पीछे (अन्तरगत) परमात्मा खड़ा है ऐसा अनुभव करो।

१११—जो आपको सबसे अधिक हानि पहुंचाने की कोशिश कर रहे हैं उनकी कृपापूर्ण और प्रेममय चिन्तन करो। वे तुम्हारे अपने स्वरूप हैं।

११२—मैं सूर्यों का सूर्य हूं। प्रकाश, प्रताप, शक्ति मैं हूं मुझे कौन हानि पहुंचाने वाला है? मेरा अपना अपना आप मेरे अपने आपको हानि नहीं पहुंचा सकता यह असम्भव है।

११३—संसार के सारे भेद-भाव, परिस्थितियां मेरी सृष्टि

है, तथा मेरी करतूत है। इसके सिवाय कोई चीज नहीं है। दुनिया मेरा संकल्प है, मैं ईश्वरों का भी ईश्वर हूं यह सत्य है।

११४—किसी व्यक्तित्व और दलबंदी से व्याकुल और क्षुभित न होकर जो महावाक्य (अहं ब्रह्मास्मि) पर निरन्तर मनन द्वार एकाग्रता और समाधि होती है, वह स्वतः ही शक्ति स्वतन्त्रता और प्रेम परिणत हो जाती है।

११५—हे डगमग, चंचल, शंशयात्मक चित्तों। उत्साह शून्य धर्म-परायणा और विधर्म परायता को अब छोड़ो। सब प्रकार का संदेह और अगर मगर निकाल डालो। सब मत मतान्तर तुम्हारी ही सृष्टि है। सूर्य चाहे पारे की थाली सिद्ध हो जाय, पृथ्वी उदराकार या खोखला मण्डल भले ही प्रमाणित हो जाय, वेद सम्भव है पौरुषेय ठहराए जा सके, किन्तु तुम ईश्वर के सिवाय और कुछ नहीं हो सकते। और कुछ नहीं हो सकते।

११६—हे मूढ़ और अदूरदर्शी जीव ! इस आदर्श रूप विधान की अपेक्षा वाह्य रूपों (व्यक्तियों) को क्यों अधिक प्यार करता है। इसलिए कि अज्ञान के कारण उनको ये व्यक्ति और वाह्य रूप निरन्तर एक रस रहने वाले सत्य पदार्थ दिखाई देते हैं और दैवी विधान एक अस्पर्श्य क्षणिक मेघ सदृश मान होता है। केवल शिव ही सत्य है और अन्य सब व्यक्ति एवं प्रीति के पदार्थ क्षणिक आभास रूप छाया मात्र तथा मिथ्या प्रेत रूप है।

११७—लोग इस शरीर कौ पोलीसीबाज, स्वार्थी सर्व गुण, मदोन्मत अथवा अन्य जो चाहे कहे, चाहे जिसे लोग अपमानित, पददलित और मृतक जैसा कहते हैं, वैसा ही उसको कह दे मुझ (सर्व आतमा) को इससे क्या ?

११८—यदि हम लोग बाहर से प्राप्त हुई निन्दा-स्तुति में विश्वास न करने की शक्ति अपने भीतर उपार्जित कर लें, यदि जितना वह विजय करना हमारा उद्देश्य न हो, यदि हम कार्य

करने के ज्वर से मुक्त हो जायं, यदि सत्य उपदेश की अपेक्षा स्वयं सत्य बनने में हम अपनी शक्ति अधिक लगायें तो ईश्वरों के ईश्वर हम हो सकते हैं।

११६—संसार में केवल एक ही रोग है और एक ही दवा है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"। इस वेदान्तिक नियम का भंग ही सारी व्याधियों की जड़ है जो कभी एक दुख का रूप धारण करती है और कभी दूसरे का और इसकी औषधि है अपने वास्तविक ईश्वरत्त्व को प्राप्त करना।

१२०—सारी चिन्ताएं सारे दुख दर्द आपके भीतर ही रहते हैं, कभी बाहर नहीं होते।

१२१—सारी शंकाएं अज्ञान जन्य हैं। एक पल में उड़ सकती हैं।

१२२—अपने को अपमानित, पददलित वा पतित कभी मत समझो। अपने ऐश्वर्य की प्राप्ति करो। अन्यथा सब अज्ञान है।

१२३—जब तक आप अपने अन्तःकरण के अन्धकार को दूर करने पर न तुलोगे, तब तक तीन सौ तैंत्तीस कोटि कृष्ण क्यों न अवतार ले लें पर तो भी कुछ लाभ न होगा।

१२४—जब शरीर अथवा बाह्य मायाविक रूप इतना प्रधान हो जाता है कि जिससे भीतर का ईश्वर विस्मृत हो जाय, तब आपकी अधोगति होती है। इसे दूर करो। तब आप देखेंगे कि सारी शक्तियाँ (ऋद्धि-सिद्धियाँ) आपकी सेवा कर रही हैं। इसकी निदिध्यासन करो फिर सारे सूर्य, चन्द्र और तारे आपका हुक्म बजावेंगे।

१२५—किसी व्यक्ति को परमात्मा से भिन्न किसी अन्य भाव से देखने की कभी भी कोई सम्भावना मुझे नहीं रही।

१२६—इस संसार की सभी चीजें ईश्वर का चित्र चिन्ह मात्र हैं। पुरुष और स्त्री इन्हीं चित्रों के शिकार होते हैं। वे

बुतपरस्ती का शिकार बनते हैं। और मूर्तियों के गुलाम हो जाते हैं।

१२७—शरीर, भीतरी परमेश्वर का चित्र, प्रतिमूर्ति या पोशाक है। पोशाक से अथवा इसके पहनने वाले व्यक्ति से, भीतरी असलियत से अधिक प्यार मत करो।

१२८—जिस क्षण तुम इन सांसारिक पदार्थों में सुख ढूंढ़ना छोड़ दोगे और स्वाधीन हो जाओगे, अपने भीतर के परमेश्वर को अनुभव करोगे, उसी क्षण तुम्हें ईश्वर के पास न जाना पड़ेगा, ईश्वर स्वयं तुम्हारे पास आवेगा। यही दैवी विधान है।

१२९—यदि क्रोधी तुम्हें शाप दे और तुम कुछ न बोलो तो उसका शाप आशीर्वाद के रूप में बदल जायेगा।

१३०—जो कुछ है सब आत्मा ही है। आत्मा के सिवाय कुछ भी नहीं है तो तुम आत्मा ही हो। ऐसा निश्चय करो।

१३१—जब कि सब कुछ मैं ही हूं तो दुःख और सुख अथवा बंधन और मोक्ष आदि मुझसे पृथक कोई ऐसी वस्तु नहीं रहती कि जो मुझे बाधा दे।

१३२—प्रत्येक प्राणियों का चेतन रूप ब्रह्म मैं ही हूं।

१३३—जब हम ईश्वर के प्रतिकूल हो जाते हैं तब हमें कोई मार्ग नहीं दिखता और हमें घोर दुःख उठाना पड़ता है। जब हम ईश्वर में तन्मय होते हैं तब ठीक उपाय, ठीक प्रवृत्ति, ठीक प्रवाह, आप ही हमारे हृदय में उठते हैं।

१३४—अपने आपको अड़ोस-पड़ोस के लोगों को ही आँखों से देखना, अपने सच्चे स्वरूप पर स्वयं ध्यान न देना बल्कि दूसरों की दृष्टि से अपना निरीक्षण करना, यह जो स्वभाव है, यही हमारे सारे दुखों का कारण है। हम दूसरों की नजरों में अत्यन्त भला जंचना चाहते हैं, यही समाज का सामाजिक दोष है। और सभी धर्मों का प्रधान अवगुण है।

१३५—तुम्हें अपने को किसी देवता या ईश्वर या कृष्ण अथवा संसार के किसी महात्मा के अधीन क्यों समझना चाहिए। तुम सव के सव स्वतन्त्र हो, मुक्ति के भाव को ग्रहण करते हो वह तुम्हें सुखी वना देगा।

१३६—लोग क्यों दुःख सहते हैं ? वे दुःख सहते हैं निज आत्मा के अज्ञानता के कारण जिससे उनको अपना सत्य स्वरूप भूल जाता है और जो कुछ दूसरे उनको कहते हैं वही वे अपने को समझ लेते हैं। और यह दुःख तव तक वरावर बना रहेगा जव तक मनुष्य आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर लेगा।

१३७—जव तक वाह्य रूपों में आसक्ति रखेंगे तव तक यह उत्थान पतन होता ही रहेगा।

१३८—जिसको ब्रह्म से एकता है उसकी सव इच्छायें परिपूर्ण हो जाती हैं। उसे कभी कोई धोखा नहीं होगा, कोई पीड़ा या कष्ट न होगा।

१३९—जिस तरह जल मात्र का केन्द्र समुद्र है इसी प्रकार सव स्पर्शों का त्वचा, सव गंधों का नाक, सव रसों की जिह्वा सव रंगों का नेत्र, सव शव्दों का कान, सव संकल्पों का मन, सव विद्याओं का हृदय, सव कर्मों के हाथ, सव आनन्दों का उपस्थ, सव त्यागों का पाय, सव गतियों का पैर और सव वेदों की वाणी केन्द्र व गति है। उसी तरह सम्पूर्ण संसार और संसार के सारे पदार्थ अपना केन्द्र केवल आत्म निज स्वरूप पवित्र आत्मा में रखते हैं, सारे रोगों का केन्द्र भी उसी में है। सभी रंगों, रसों, शव्दों, इन्द्रियों द्वारा कर्मों का अपना केन्द्र केवल आत्मा में मिलता है। उसी से हर एक वस्तु निकलती है।

१४०—जहाँ यह द्वैत सा होता है, वहीं एक दूसरे को सूँघता है, एक दूसरे को देखता है, एक दूसरे को सुनता है, एक दूसरे का अभिवादन करता है, एक दूसरे को मनन करता है, एक

दूसरे को जानता है। किन्तु जब इसका आतमा ही सब कुछ हो गया तो कौन किसको सूँघे, कौन किसको देखे। वह किसको सुने, कैसे वह किसी का अभिवादन करे। किससे किसको मन में लाये, किससे किसको जाने। जिससे इस सबको जानता है उसको किससे जाने ? प्रिय। वह विज्ञाता (अपने) को किससे जाने।

१४१—अनन्त स्वरूप आतमा के सिवाय कोई और वस्तु है ही नहीं जिसे आप देखें या सुनें। न कोई द्वैत है, न कोई पदार्थ है।

१४२—शरीर भीतरी परमेश्वर का चित्र, प्रतिमूर्ति या पोशाक है। पोशाक को इसके पहनने वाले व्यक्ति से, भीतरी असलियत से अधिक प्यार मत करो।

१४३—हर एक वस्तु आपके लिये ईश्वर बन जाना चाहिये।

१४४—जिस समय जगत के सारे पदार्थ चित्र या चिन्ह मात्र बन जाते हैं, जिस समय हम पदार्थों को पदार्थ भाव से नहीं देखते, बल्कि उनके पीछे उनके आधार रूप निर्विकार आतमा देखते हैं, जिस समय हमारी दृष्टि इस वा उस पदार्थ पर पात होते ही, उसमें हमारा हृदयनेत्र शुद्ध स्वरूप परमातमा को देखता है। जिस समय ऐसी स्थिति प्राप्त होती है। तब समस्त विश्व के साथ एकता अभेदता अनुभव करना मनुष्य के लिये सुगम हो जाता है। यही ईसा दशा है। इस ईसा की अवस्था में कुछ काल रहने के बाद दूसरी इससे भी उच्चतर स्थिति आती है। तब हम परमातमा में पूर्णतः लीन हो जाते हैं। इसको हम निर्वाण या समाधि अवस्था कहते हैं।

१४५—शत्रुओं को शत्रु रूप में त्याग दो और ईश्वरत्व का अनुभव करो। प्रत्येक प्राणी और पदार्थ में ईश्वरत्व का अनुभव करो।

१४६—अपने शरीर के मरने जीने की चिन्ता न करो,

आपके शरीर की लोग पूजा करते हैं या उस पर ढेले मारते हैं, इसको परवाह मत करो इससे ऊपर उठो।

१४७—समस्त पीड़ायें—शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक—वेदान्त का अनुभव करने से तुरन्त रुक जाती है, और इसका अनुभव करना कठिन काम नहीं है।

१४८—दुनिया का सम्पूर्ण लोक मत और समाज केवल मेरा ही संकल्प है और मैं ही वह असली शक्ति हूं जिसकी सांस या छाया मात्र यह सारी दुनिया है।

१४९—अपने ही भीतरी परमेश्वर को प्रसन्न करने का यत्न कीजिये। अनैक्य जनता और बहुमत को आप किसी हालत में सन्तुष्ट नहीं कर सकेंगे।

१५०—जब आपका अपना आप प्रसन्न है, तब जनता अवश्य सन्तुष्ट होगी।

१५१—भूतकाल की मुझको चिन्ता नहीं और भविष्य की इच्छा नहीं, वर्तमान विषय तथा प्राप्त राग-द्वेष से रहित होकर विचरता हूं।

१५२—न मैं हूं, न जगत है, न पृथ्वी है तो शोक किसका करना।

१५३—संकोच और भय से मनुष्य दुरावस्था में पड़ता है। किसी भी चीज से विचलित न होओ, न उसकी आकस्मिकता से डरो। शरीर में आशक्ति पैदा करने वाले भय को दूर भगा दो।

१५४—यदि मन में भय नहीं है तो बाहर में कितना ही भय का सामान हो उससे तुम्हारा कुछ नुकसान नहीं होगा। यदि मन में भय है तो बाहर में अवश्य भय प्रदर्शित होगा। नहीं होने पर भी उपस्थित हो जायगा।

१५५—यदि मन में भय न हो तो भय का हेतु होने पर भी भय नहीं लगता पर यदि मन में भय है तो बिना कारण भी डर

के नये हेतु पैदा हो जाते हैं। भूत का भय मन में होने पर भूठ-मूठ भूत पैदा हो जाता है।

१५६—जब लग संसार का शब्द अर्थ इसके हृदय में दृढ़ है तब लग शब्द अर्थ के अभाव की चिन्ता करे, जहाँ इसको जगत भासता है, तहां ब्रह्म की भावना करे, जब ब्रह्म भावना करेगा तब संसार के शब्द अर्थ से रहित होवेगा। और आत्म पद भासेगा।

१५७—जैसे छोटे बालक के हृदय विषे जगत के शब्द अर्थ नहीं होता तैसे ज्ञानी की चेष्टा भी प्रारब्ध वेग करके होती है, परन्तु उसके हृदय विषे शब्द अर्थ का अभाव है।

१५८—वह इन सैकड़ों चित्रों से (चराचर के चित्रों से) बहुत खुश हुआ क्योंकि वह जानता है ये सब चित्र स्वयं अपने ही हैं।

१५९—जैसे स्वप्न विषे नाना प्रकार के शब्द भासते हैं सो कुछ वास्तव नहीं, पत्थर की नाईं मौन हैं, तैसे जाग्रत विषे भी जेते कुछ शब्द होते हैं सो सब स्वप्न हैं, कुछ हुआ नहीं, केवल आत्मसत्ता अपने आप विषें स्थित है।

१६०—जैसे स्वप्न विषे द्रष्टा ही दृश्य रूप होता है और नाना प्रकार के कर्म दृष्ट आते हैं। परन्तु अपर कुछ हुआ नहीं।

१६१—समाधि का अभ्यास करने पर अनुसन्धान, आलस्य, भोगवासना, लय, तम, विक्षेप रसास्वाद और शून्यता आदि विघ्न बलातकार से अवश्य आते हैं। ब्रह्मवेत्ता को धीरे-धीरे सब का त्याग करना चाहिए।

१६२—जब सब नारायण ही हैं भय किससे होवे ? भय दूसरे से होता है।

१६३—मुझ चैतन्य आत्मा के भय से सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि,

वायु, यम, समुद्र, नदियां, ब्रह्मा, विष्णु, शिवादिक सब दृश्य भयभीत होते हैं।

१६४—जैसे चित्र की मूर्ति चितेरे को कैसे भय देवेगी। तथा अनेक प्रकार की पुतलियां तंत्री को कैसे भय देवेगी। अपने आत्मा को दृश्य-भय कैसे देवेगी।

१६५—मुझ विषे मरना जीना दोनों नहीं है तो भय क्यों राखूँ।

१६६—आप विना कुछ न देखे न सुने क्योंकि मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप बिना और कुछ है ही नहीं।

१६७—वेद सहित सर्वसंसार को स्वप्नवत जानना है। जो इससे आगे भी कर्त्तव्य माने सो भ्रमी पुरुष है।

१६८—सब मुझ से भय खाते हैं मैं किसी से भय नहीं खाता। उल्टा कालादिक दृश्य मुझ चैतन्य से भय करते हैं।

१६९—जेते कुछ शब्द अर्थ है, सो जिसको द्वैत रूप नहीं भासते सो जीवन मुक्त है।

१७०—किसी भी परिस्थिति में ऊपरी कठोरता और भयानकता में भयभीत नहीं होना चाहिए। कष्टों के काले से काले मेघ के पीछे पूर्ण प्रकाशमय एक रस परम सत्ता सूर्य की भांति सदा ही विद्यमान है।

१७१—जिस क्षण तुम सफलता की ओर पीठ कर लोगे, जिस क्षण परिणामों की चिन्ता छोड़ दोगे, जिस क्षण तुम अपने वर्त्तमान कार्य में अपनी सारी शक्ति केन्द्रित कर दोगे, उसी क्षण सफलता तुम पर न्यौछावर हो जायगी बल्कि तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ेगी। इसीलिए सफलता के पीछे मत भागो, सफलता को अपना ध्येय मत बनाओ और तब ही सफलता आपकी दासी बन जायगी।

१७२—हमीं हैं खुद खुदा यारो,
नहीं पैदा हमारी है ।
हमीं जिन्दा हमेशा हैं,
न मरना मन करारी है ।।
पड़ी वे खौफ की कफनी,
न है माला न है जपनी ।
मिटी तिन ताप की तपनी,
खुली अनुभव की बारी है ।।

१७३—यह निश्चय करो कि जिस विचार और शब्द से भय उत्पन्न होता है वह केवल अज्ञान है । तुम्हें भय किसका ? संसार में आप ही आप तो हो । इसी निश्चय पर पर्वत की भांति अविचल रहो ।

१७४—पूर्व, पच्छिम, उत्तर, दक्षिण ये चारों दिशायें जो अनन्त विस्तार वाली दिखाई दे रही हैं, उन्हें तुम ब्रह्म का एक पाद समझो, आकाश, पृथ्वी, समुद्र और पाताल इन चारों को ब्रह्म का दूसरा पाद जानो । तुम अपने नेत्र, कान नासिका और मन इन चारों को ब्रह्म का तीसरा पाद जानो ।

१७५—जब तुम दुःखी वा रुग्ण अवस्था में हो, मृत्यु का भय आनकर सताये, तब आप अपने को अजर अमर आत्मा का चितवन कर निर्भय हो जाओ ।

१७६—जब भेद वादियों के बीच में भ्रम युक्त रोचक, भयानक वचन श्रवणकर चित घबड़ाने लगे तो एक दम अपने को उस अज्ञान संयुक्त चित्त का साक्षी मानकर, उन कल्पित वचनों को तणाग दो ।

१७७—जब जीवन सम्बन्धी चिन्ता आ घेरे तो अपने आनन्दस्वरूप का गायन करते हुए उस मोह माया को भगा दो ।

१७८—अगर कोई शरीर सम्बन्धी अंग-भंग हो जावे तो

सदा अपने को आकार रहित चेतन आकाशवत निश्चयकर शरीर की त्रुटियां वा कमी पेशियां सब भूल जाओ।

१७९—जब दुनिया के किसी भारी चक्कर में आ फंसो, तो उस वक्त अपने स्वरूप को निर्लेप और नित्यमुक्त निश्चयकर उस जाल से निकल जाओ।

१८०—जब कोई गृहस्थ सम्बन्धी कठिन समस्या आकर व्याकुल करे तो उसको एक मदारी का खेल समझते हुए अपने को संग सम्बन्ध से निराला जानकर उस बोझ को हलका कर दो।

१८१—अगर कोई क्रोध के आवेश में अपमान युक्त वचन कहें तो अपने शान्तमय स्वरूप में स्थिर होकर कोई भी क्षोभ मन में न उत्पन्न होने दो।

१८२—जब किसी प्रकार की कामना चित्त को उत्तेजित कर सताने लगे, तब अपने पूर्ण तृप्त स्वरूप का स्मरण कर उस दीनता से दूर हो जाओ।

१८३—जब शरीर वा इन्द्रियों से कर्म करने का मौका मिले तो अपने को साक्षी अवस्था में निश्चयकर, किसी भी कर्म का कर्त्ता अपने को न मानो।

१८४—अगर साधारण लोगों से मिलकर कार्य करने का मौका सामने आवे तो सब भेद-भाव दिल से हटाकर सहज और समता भाव से उस कार्य को पूरा करो।

१८५—अहो ! यह सम्पूर्ण जगत मुझमें ही तो उत्पन्न हुआ है, तथा यह मुझ में ही स्थित है और मुझ में ही लीन हो जाता है। चराचर जगत मैं ही हूं।

१८६—जगत रूपी चित्र आत्मस्वरूप चैतन्य में इस प्रकार माया से अर्पित है जैसे वस्त्र में चित्र इससे मायो पाधि जगत की उपेक्षा करके चैतन्य का परिशेष करो।

१८७—कल कभी आना नहीं है। जीवित आज से टक्कर

लेना है, न किसी बात को कल पर छोड़ना, न इसी चिन्ता में पड़ना कि कल क्या होगा। क्योंकि कल आने वाला नहीं है और जिसे कल समझा जाता है तो आज बनकर आना पड़ेगा।

१८८—दूसरों का बुरा लगना केवल इस कारण हमें सत्य परित्याग नहीं करना चाहिए।

१८९—नाम रूप ब्रह्म में इस प्रकार देखो जैसे समुद्र में बुलबुले प्रतीति मात्र है।

१९०—यह सम्पूर्ण भेदमय दृश्य जगत सत्य नहीं है। सत्य केवल एक है। ये हैरान करने वाली परेशानियां सत्य नहीं हैं। आप दुनियां को परमेश्वर से अधिक सत्य बना देते हैं।

१९१—दूसरों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से कभी कुछ मत करो। जो नहीं कह सकते हैं वही वीर है।

१९२—वेदान्त के अनुसार दयामात्र दुर्बलता है। वेदान्त कहता है, यदि आप सत्य पर इसलिए आपत्ति करते हो कि इससे किसी का दिल टूट जायगा तो सत्य की हत्या होने की अपेक्षा किसी व्यक्ति की मृत्यु बेहतर है।

१९३—यह सर्वश्रेष्ठ सत्य है कि "आप परमेश्वर हो" "प्रभुओं के प्रभु हो" यही समझो, यही अनुभव करो और फिर आपको कोई भी हानि नहीं पहुंचा सकता। आपको कोई भी चोट नहीं पहुंचा सकता। आप प्रभुओं के प्रभु हो।

१९४—ईश्वर का बनाया हुआ द्वैत भले ही बना रहे। उसको मिथ्या समझ लेने मात्र से ब्रह्म का बोध हो सकता है। साधक का काम द्वैत को मिथ्या समझने से ही चलता है।

१९५—सभी मेरी दृष्टि में ईश्वर स्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ ईश्वर का मन्दिर है।

१९६—इच्छाओं की तृप्ति का उपाय एक है कि इच्छाएं त्याग दी जायें।

१९७—सत्य सदैव अप्रिय है, विकट है। हर एक शरीर में ईश्वर को देखने का दृढ़ निश्चय करो।

१९८—जिस विवेकी ने इस जगत को सुपने या इन्द्रजाल के समान समझ लिया। जिसे दृष्ट नष्ट रूप में देखने लगा, वह दोष दर्शी विवेकी भला बताओ इसमें अनुराग कैसे करे।

१९९—ज्ञानी, जागरण को सत्य समझना छोड़ देने पर फिर पहले की भांति अनुरक्त नहीं होता। ज्ञानी प्रत्येक वस्तु को अपना आत्मा समझता है।

२००—मुर्दे की कल्पना को बार-बार मन में लाना काम वासना से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय बताया है मुर्दे को पड़े हुए देखकर मन घबड़ाने लगता है।

२०१—जो किसी को द्वितीय रूप में देखता नहीं है। सबको अपना आत्मा ही समझता है, उसको किसी से भय नहीं होता।

२०२—जब पांचों भूत या पांचों भूतों से बना हुआ कोई पदार्थ दीखे तब ही उसके सत्य तत्त्व पर दृष्टि पड़ने लगे और उसी में जमने लगे तो यही "द्वैतावज्ञा" है। यह "अद्वैत बुद्धि" है।

२०३—शरीर का मोह छोड़कर भजन करना चाहिए। शरीर की जरा भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जैसा चिन्तन होता है, वैसा ही पदार्थों से वह घिर जाता है।

२०४—विचारक लोग अपने जी में समस्त भूत भौतिक पदार्थों, मिथ्यापन की वासना दृढ़ता से बैठा लें।

२०५—मैं अपनी निन्दा सुनकर कभी दुःखी नहीं होऊंगा और स्तुति सुनकर प्रसन्न भी नहीं होऊंगा। यह मैंने आज से दृढ़ निश्चय कर लिया है।

२०६— मैंने कभी किया क्या काम।
मैं तो परम ब्रह्म निष्काम॥

मैं हूं अद्वितीय सर्वोच्च ।
मेरा कहां बचा कर्त्तव्य ॥
मैं हूं ईश्वर सब का प्राण ।
रह बस मस्त शान्त दिन रैन ॥
अपने को तू ईश्वर जान ।
भ्रम को दूर तोड़कर डाल ॥
छोड़ काम की चिन्ता मुक्त ।
यह ले जान ज्ञातव्य ॥
मैं हूं उनका आश्रय स्थान ।
स्वयं मैं ओंकार भगवान ॥

आज न मेरे हर्ष को कोई सकता टोक ।
आज न मेरे मार्ग को कोई सकता रोक ॥

२०७—परिणाम की क्यों परवाह करते हो । अपनी तनख्वाह के बारे में कभी फिक्र मत करो । अज्ञानी लोग समझते हैं कि कार्य की सफलता में कार्य करने की अपेक्षा अधिक आनन्द है । अन्धों को यह मालूम नहीं कि किसी परिणाम से उतना सुख नहीं मिलता जितना काम से मिलता है ।

२०८—अपने विचारों को सदा वास्तविक आत्मा में रखो और परिस्थितियों की परवाह मत करो । संसार को भला करने के विचार से परेशान मत हो ।

२०९—तब तक आपकी कोई हानि नहीं हो सकती, जब तक आप स्वयं उसे बुलायें नहीं । कोई तलवार तब तक नहीं काट सकती, जब तक आप यह न सोचें कि यह काटती है ।

२१०—ऐ पूर्ण ब्रह्म । तेरे लिये कोई कर्त्तव्य या कार्य शेष नहीं है । सारी प्रकृति सांस रोके तेरी सेवा के लिये खड़ी है । संसार तेरी पूजा करने का अवसर पाकर अपने को सराह रहा

है। क्या तू प्रकृति की शक्तियों को अपने चरणों में झुकने का अवसर देगा ?

२११—अपने अन्दर सत्य के प्रकाश को सदा चमकता रखो। भय और प्रलोभन का शैतान तुम्हारे पास नहीं फटकेगा।

२१२—बाहर की बातों में, कुछ भी नहीं मान अपमान।
अपना काम किये जा निशदिन, इसमें ही सम्मान ।।

२१३—राजा और राष्ट्रपति तुम्हारे सेवक हैं। तारों की तरह हंसते खुश होते हुए काम करो।

२१४—जब तक गलती करने वाले के प्रति तेरे मन में कठोरता है तब तक तू साधू नहीं हुआ।

२१५—जब दूसरे लोग तुम्हारी आलोचना, निन्दा करते हों तब उन्हें रोकने की चेष्टा न करो। क्योंकि इन्हीं सब बातों के द्वारा तुम में सद्‌गुणों की वृद्धि होगी।

२१६—जब तक तुम्हारा हृदय इतना दृढ़ नहीं है कि तुम मूर्खों के बकने पर स्थिर शान्त बने रहो, अथवा तुममें इतनी सहनशीलता नहीं है कि अज्ञानी मूर्खों को क्षमा कर सको तब तक तुम अपने को कहीं ज्ञानी न समझ लेना।

२१७—न कोई मृत्यु है, न रोग, न शोक, पूर्ण आनन्दमय इस प्रकार के जीवन पर नित्य ध्यान दो।

२१८—अपनी आत्मा को सृष्टि का आत्मा अनुभव करो।

२१९—जो कुछ दिखाई देता है आपका ही भ्रम और संकल्प है। किसी स्रष्टा की सृष्टि नहीं है। आप ही उसका प्रकट करने वाला और द्रष्टा है। जो कुछ मैं देखता हूं वही मैं हूं। जो कुछ मैं देखता हूं उस सब का मैं सम्राट हूं।

२२०—पेट को चिकने और भारी पदार्थों से भर देने वाला, तीव्र बुद्धि विद्यार्थी भी अयोग्य और स्थूल बुद्धि हो जाता है।

इसके विपरीत हलके भोजन से मस्तिष्क सदा स्वच्छ और हलका रहता है ।

२२१—सब कुछ एक ही है प्रेम को द्वैत से कुछ मतलब नहीं ।

२२२—अपने आप में सब चीजों को और सब चोजों को अपने आप में देखना ही असली आंख वाला होना है ।

२२३—यदि सबसे अपनी एकता का तुम अनुभव कर लो तो तुम देखोगे कि तुम्हारा मस्तिष्क अनन्त शक्तिशाली हो जायगा ।

२२४—संसार मुझ में है, मैं संसार में नहीं आ सकता। विश्व मुझ में है, मैं विश्व में बंध नहीं सकता । सूर्य और नक्षत्र मुझ में उदय और अस्त होते हैं ।

२२५—ऐसी कौन सी विपत्ति है जो मेरी प्रसन्नता को नष्ट कर सकती है ? वह कौन सा रंज है जो मेरे आनन्द में विघ्न डाल सकता है । मैं तो विश्व ब्रह्माण्ड का प्रभु हूं ।

२२६—मैं बुद्धि का प्रभु हूं । दिमाग का मालिक हूं और मन का शासक हूं ।

२२७—यदि तुम शरीर और मन से ऊपर उठ जाओ तो सब चिन्ता और भय से छूट जाते हो ।

२२८—किसी आकस्मिक दुर्घटना से धैर्य न छोड़ो क्योंकि घबराहट से शक्ति तथा बुद्धि हर जाती है । किसी प्रकार की कठिनाइयों के आगे दुःखित न होकर गम्भीरतापूर्वक उनका सामना करो, तभी तुम निस्सन्देह विजय प्राप्त करोगे । तुम कहीं भी हतोत्साहित होकर निराश न होओ ।

२२९—अपने दृढ़ संकल्प की पूर्ति के लिए बार-बार असफल होकर भी पीछे न मुड़ो । निस्सन्देह तुम्हारी अन्त में विजय होगी ।

२३०—निन्दन्तु नीति निपुण यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव वा मरण मस्तु शतान्तरेवा, न्याय्यात्पथ, प्रविचलन्ति पदं न धीरा।

(नीति में निपुण लोग चाहे प्रशंसा करें या निन्दा, लक्ष्मी चाहे अनुकूल हो या अपने मनमाने मार्ग पर जाय। मृत्यु चाहे आज आये या सैकड़ों वर्षों के वाद, धैर्यवान कभी न्याय के पथ से विचलित नहीं होते।)

२३१—बड़े से वड़े शत्रु के प्रति भी प्रिय और कल्याणकारी शब्दों को काम में लाओ।

२३२—मेरा धर्म सिखाता है कि भय ही सबसे वड़ा पाप है।

२३३—सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक कल्याण की एक ही नींव है। और यह जानना है कि मैं और मेरा भाई एक है। यह सब देशों और सब जातियों के लिए सत्य है।

२३४—वीर और निडर होओ और मार्ग साफ होगा। किसी चीज से न डरो साहसी होओ।

२३५—यह संसार वालकों को खेल मात्र है। उससे मैं कैसे विचलित हो सकता हूं।

२३६—एक आतमा को ही जानो और सब वृथा शब्दों को त्यागो। ध्येय की उपलब्धि बिना रुको नहीं।

२३७—अशुभ और शुभ एक ही पदार्थ हैं दो नहीं।

२३८—न तो द्रष्टा ही सत्य है और न दृश्य। यह सब शब्दों का खेल मात्र है। शब्दों पर झगड़ने से क्या लाभ ? वास्तव में एक ही आत्मा है जो हम हैं, उसके सिवाय कुछ भी नहीं है।

२३९—देह और दुनिया दोनों ईश्वर के भीतर हैं और वही ईश्वर मैं हूं।

२४०—मनुष्यादि प्राणी स्वप्न या स्मृति आदि के समय जबकि अनुकूल प्रतीत होने वाला वाह्यार्थ नहीं होता जब भी

सुखी होता है अथवा जबकि प्रतिकूल व्याघ्रादि सच्चा पदार्थ नहीं होता तब भी दुःखी हुआ करता है, इसके विपरीत समाधि सुषुप्ति तथा मुर्छा के समय इन वाह्यार्थ पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी सुखी या दुःखी नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि सुख दुःख के साथ वाह्य पदार्थों के अन्वय व्यतिरेक नहीं है। किन्तु सुख दुःख के साथ मानस पदार्थों से ही सुखी या दुःखी है। केवल वाह्यार्थ से कोई सुखी दुःखी नहीं होता।

२४१—वास्तव में अच्छा और बुरा दोनों एक ही है और हमारे मन पर अवलम्बित है।

२४२—ईश्वर ही सबके भीतर है, यह जान कर ज्ञानी व्यक्ति निन्दा-स्तुति दोनों का परित्याग करता है।

२४३—जब तक चित्त में इतनी दृढ़ता नहीं आ जाती कि शास्त्र विधियों का पालन छोड़ देने पर भी हृदय का यथार्थ भक्ति भाव नष्ट नहीं होता तब तक इनको मानते चलो।

२४४—यह जगत तो छोटे बच्चों के खिलौने के समान है। हम जब उसे समझ लेंगे तो जगत में कुछ भी क्यों न हो वह हमें चंचल नहीं कर सकेगा। शुभ और अशुभ भी मेरे दास हैं।

२४५—जगत को एक तस्वीर के समान देखो। जगत में मुझे कोई भी वस्तु विचलित नहीं कर सकती। यही समझकर जगत के सौंदर्य का उपभोग करो।

२४६—अच्छा बुरा दोनों को एक दृष्टि से देखो—दोनों ही भगवान के खेल हैं। इसलिये अच्छा बुरा और सुख दुःख सभी में आनन्द का अनुभव करो।

२४७—लोग तुम्हारी बुराई करें तो तुम आशीर्वाद दो। सोच कर देखो कि वे तुम्हारा कितना उपकार करते हैं।

२४८—शास्त्र तो सब हमारे ही भीतर हैं। धैर्यहीन व्यक्ति कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता।

२४९—हम दूसरों के कार्यों की जो निन्दा करते हैं, वह वास्तव में हमारी अपनी ही निन्दा है।

२५०—तुम अपने क्षुद्र ब्रह्माण्ड को ठीक करो जो तुम्हारे हाथ में है। वैसा होने पर बृहद ब्रह्माण्ड भी तुम्हारे लिये आप ही आप ठीक हो जायगा।

२५१—हमारे भीतर जो नहीं है बाहर भी हम उसे नहीं देख सकते।

२५२—ब्रह्म दृष्टि को छोड़कर अन्य किसी भाव से किसी वस्तु को मत देखो यदि ऐसा नहीं करोगे तो अन्याय और बुरा ही देखने में आयेगा।

२५३—सबसे अधिक पाप है, अपने को दुर्बल समझना। तुम सबसे बड़े हो और कोई नहीं है।

२५४—"खराब" शब्द वाच्य कुछ है, यह स्वीकार मत करो।

२५५—इन्द्रियज्ञान सम्पूर्ण भ्रान्ति है।

२५६—मैं मुक्त हूं, मुक्त हूं, मुक्त हूं। मेरा कभी अनिष्ट नहीं हो सकता।

२५७—जब हम कुछ भी बुराई नहीं देख पायेंगे, तब हमारे लिये जगत प्रपंच भी नहीं रहेगा।

२५८—चाहे कितना ही अच्छा काम क्यों न करो किन्तु उसमें कुछ न कुछ बुराई लगी रहेगी।

२५९—सुनना, देखना, सूँघना और स्वाद लेना अस्वीकार कर दो तभी तुम योगी हो पाओगे।

२६०—जब तक उस अन्तरवर्ती अन्तर्यामी गुरु का प्रकाश नहीं होता तब तक बाहर के सभी उपदेश व्यर्थ हैं।

२६१—मुक्ति लाभ करने के लिए तुम्हारे पास जो कुछ शक्ति है सब लगा दो।

२६२—कोई भी कार्य करने के समय ऐसा मत कहो कि यह मेरा कर्त्तव्य है वरन् ऐसा कहो, यह मेरा स्वभाव है।

२६३—शिशु संसार में कोई भी पाप नहीं देख पाता, क्योंकि बाहर के पापों का परिणाम निर्णयक कोई माप दण्ड उसके भीतर है ही नहीं। छोटे लड़कों के सामने डकैती होती है, परन्तु उनका उधर ध्यान ही नहीं रहता। उन्हें वह अन्याय रूप प्रतीत होता नहीं।

२६४—दूसरे को पापी कहने से बढ़कर और कोई बुरा कार्य नहीं है। मनुष्य को भगवान समझकर उसके प्रति प्रेम रखने में कितना आनन्द है—एक बार स्वयं अनुभव करके देखिए।

२६५—भूत या भविष्य में न कोई तुम्हारी अपेक्षा श्रेष्ठ ईश्वर था, न है, न होगा।

२६६—जब तक तुम यह अनुभव नहीं करते कि मैं ही देवों का देव हूं। तब तक मुक्त नहीं हो सकते।

२६७—जो महापुरुष प्रचार कार्य के लिए अपना जीवन समर्पित कर देते हैं वे उन महापुरुषों की तुलना में असम्पूर्ण हैं जो निर्जन नीरवस्थान में महापवित्र जीवनयापन करते हैं।

२६८—जो सत्य है, उसे साहसपूर्वक निर्भीक होकर लोगों से कह दो। इस सत्य के प्रकाश के कारण व्यक्ति विशेष को कष्ट हुआ या नहीं इस ओर ध्यान मत दो।

२६९—अन्य सभी चिन्ताएं छोड़कर सर्वा अन्तःकरण से ईश्वर की दिन-रात उपासना करनी चाहिए। सुख-दुःख, लाभ-क्षति इन सबों को त्यागकर दिन रात ईश्वर की उपासना करो। एक क्षण भी व्यर्थ मत जाने दो।

२७०—तुम अपने ऊपर अविश्वास कभी मत करो, तुम इस जगत में सब कुछ कर सकते हो। कभी भी अपने को दुर्बल मत समझो। सभी शक्तियां तुम्हरे भीतर विद्यमान हैं।

२७१—स्वप्न, स्वप्नद्रष्टा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी तरह जाग्रत भी जाग्रत द्रष्टा के सिवाय कुछ नहीं है।

२७२—जो मनुष्य इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त करना चाहता है उसे एक ही जन्म में हजारों वर्षों का काम कर लेना पड़ेगा। उसे इस युग के भावों की अपेक्षा बहुत आगे जाना पड़ेगा।

२७३—तुम यह अनुभव करना सीखो कि मैं ही सब शरीरों में वर्त्तमान हूं।

२७४—यदि शरीर स्वस्थ न हो तो मन के साथ संग्राम कैसे कर सकोगे शरीर को पहले सुसंगठित कर लो। फिर मन पर धीरे-धीरे अधिकार प्राप्त होगा।

२७५—जो लोग शरीर से दुर्बल हैं, वे आतमा साक्षात्कार के अयोग्य हैं। मन पर एक बार अधिकार प्राप्त हो जाने पर देह सबल रहे या सूख जाय इससे कुछ नहीं होता। वास्तविक बात यह है शरीर के स्वस्थ न रहने पर कोई आतमज्ञान का अधिकारी नहीं बन सकता। शरीर में जरा भी त्रुटि रहने पर जीव सिद्ध नहीं बन सकता। जब मन सहित षट इन्द्रयों का अभाव हो जाय तब केवल शान्ति को प्राप्त होता है।

२७६—मलाई, तेल, घी, या चर्वी खाना ठीक नहीं है। पूरी से रोटी अच्छी होती है। मिठाई तो बिल्कुल ही नहीं खानी चाहिए। विशुद्ध वनस्पति पर ही अधिकतर अपना आधार रखना चाहिए।

२७७—जो मनुष्य निरन्तर, "मैं मुक्त हूं" ऐसी भावना रखता है, वह मुक्त ही है और मैं "बंधा हुआ हूं" ऐसी भावना रखने वाला बंधा हुआ है।

२७८—मन चाहे रहे या नष्ट हो जाय मुझ आतमा को हानि क्या हुई।

२७९—तुम निर्भय हो, निर्भय हो। निर्भय हो, भय ही मृत्यु, भय ही पाप, भय ही नरक, भय ही अधर्म और भय ही व्यभिचार जगत में जितने असत् या मिथ्या भाव हैं वे इस भय रूप शैतान में पैदा हुए हैं।

२८०—जिस समय भय रहित होंगे उसी समय ब्रह्म में लीन हो जाएंगे। सृष्टि रूपी अभ्यास का उसी क्षण लय हो जायगा।

२८१—मैं निर्लिप्त आत्मा हूं। मेरा जन्म नहीं, मृत्यु नहीं मैं अजर अमर हूं, मैं चिदानन्द आत्मा स्वरूप हूं। एक बार ऐसे भाव में मन को लगा लेगा तो दुःख और कष्ट के समय में अपने आप ही उपरोक्त भाव जाग्रत हो जायेंगे।

२८२—दूसरे सब प्रयत्नों को छोड़कर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि आत्मा का विकास हो सके। आत्मा के विकास के साथ बुद्धि भी प्रत्येक विषय में प्रवेश करने लगेगी। जीव मात्र ही पूर्ण आत्मा है।

२८३—पर हित के लिये थोड़ा-सा काम करने से भी भीतर की शक्तियां जागृत होती हैं। दूसरे के कल्याण करने के विचार मात्र से हृदय में एक सिंह समान बल आ जाता है।

२८४—अन्य साधारण जीवों के समान मैं भी कांचन और कामनी में मुग्ध बना रहूं तो इसमें मेरा वीरत्व क्या है।

२८५—मेरे ऐसा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला क्या कभी कोई अन्य कार्य अपने हाथ से कर सकता है।

२८६—मैं आत्मज्ञान अवश्य प्राप्त करूँगा। मार्ग में चाहे जितने विघ्न पड़ें उनको दूर करूंगा, विपत्तियों का सामना करूंगा और उन्हें पराजित करूंगा ऐसा दृढ़ संकल्प ही पुरुषार्थ है। यह देह रहे या न रहे इसकी कुछ परवाह नहीं, जब तक आत्मदर्शन न होगा, मैं अपनी पीठ कभी नहीं मोड़ूँगा। पीछे पैर कभी नहीं हटाऊँगा। इसी प्रकार अपने आत्मा को जागृत

कर और छाती ठोककर कह कि मैं अभय पद प्राप्त कर चुका हूं, अब मुझे भय चिन्ता कुछ भी नहीं है।

२८७—आप पर आपत्ति, दुःख और चिन्तायें इसलिये आती हैं कि भीतर के आत्मा का अनुभव करें। इनका काम आपको यही सुझाने का है कि आप हृदयस्थ सूर्यों के सूर्य, प्रकाशों के प्रकाश का अनुभव करें।

२८८—अपने आपको ब्रह्म समझो। अपने ब्रह्म होने में ज्वलन्त विश्वास रखो। और तब कोई भी वस्तु और कोई भी व्यक्ति तुम्हें हानि नहीं पहुंचा सकता।

२८९—अगर हम निर्भय हैं तो शेरों को भी जीत कर पालतू बना सकते हैं। अगर हम डरेंगे तो कुत्ते भी हमें फाड़ डालेंगे।

२९०—किसी भी चीज से विचलित न होओ न उसकी आकस्मिकता से डरो तुम "सब कुछ हो" शरीर में आसक्ति पैदा करने वाले भय को भगा दो।

२९१—किसी भी खराब से खराब परिस्थिति को ज्यादा वास्तविक मत समझो। ऐसी कौन-सी परिस्थिति है जिसे तुम हटा नहीं सकते अथवा फूंक मारकर उड़ा नहीं सकते ? तुम निर्भय हो, निर्भय हो, निर्भय हो, ऐसा दृढ़ निश्चय रखो।

२९२—क्या तुम इस ब्रह्माण्ड के स्वामी नहीं हो ? ऐसी कौन सी परिस्थितियां हैं जिन्हें तुम हटा नहीं सकते ?

२९३—प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक व्यवहार, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक प्राणी, ब्रह्मरूप दीखे यही सहज समाधि है।

२९४—अनन्त देश, अनन्त काल, अनन्त शक्ति, अनन्त बल, अनन्त सामर्थ्य, अनन्त पराक्रम तुम हो, ऐसा दृढ़ निश्चय रखो।

२९५—किसी से मत डरो, किसी से कोई आशा न करो, अपना कोई उत्तरदायित्व न समझो। डरो मत, तुम मुक्त हो।

२९६—जानकर या अनजान में जो कोई रात-दिन यह सोचा करता है कि "मैं नित्य हूं, मैं शुद्ध हूं, बुद्ध हूं, मैं मुक्तात्मा हूं" वह समय पाकर अवश्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है।

२९७—वस्तुतः बाहर तो कुछ भी नहीं है जो कुछ है सो अन्दर मनः कल्पित संसार है।

२९८—निर्भय बनो, कोई भी आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। सारी शक्ति निर्भयता से पैदा होती है।

२९९—समाधि में जगत शब्दमय है यह बात सबसे पहले समझ में आती है। उसके बाद गम्भीर ओंकार की ध्वनि में समा जाता है। उसके बाद वह ध्वनि भी नहीं सुनाई पड़ती। ध्वनि है या नहीं इसकी खबर नहीं रहती। इसे अनाहद नाद कहते हैं। अन्त में मन ब्रह्म में लीन हो जाता है। और चारों तरफ शान्ति फैल जाती है। मन जब ब्रह्म में लीन होने वाला स्वभाव का होता है तभी वह क्रमशः एक के बाद एक विविध अवस्थाओं में होकर पार करता हुआ अन्त में निर्विकल्प पहुंचता है।

३००—मैं मिथ्या, तू मिथ्या, धर्म मिथ्या और कर्म मिथ्या और जगत मिथ्या है और ऐसा प्रतीत होता है कि मैं ही सर्वस्व हूं। मैं ही सर्वज्ञ-सर्वगत आत्मा हूं, अपना साक्षी अपना प्रमाण मैं स्वयं ही हूं।

३०१—भक्ति मार्ग शिथिल कर्म है। इससे फल प्राप्ति में थोड़ा विलम्ब होता है। किन्तु यह है सहज और साध्य।

३०२—योग में अनेक विघ्न हैं। योग साधते समय मन यदि विभूति के मार्ग में लुब्ध हो गया तो पुनः स्वरूप पहुंचने पर बड़ी देर लगती है। एक मात्र ज्ञान मार्ग ही बहुत शीघ्र फल देने वाला तथा मतों के अनुकूल होने वाला मार्ग है। उसमें भी विचार मार्ग में चलते समय कई बार मन दुरस्त (कष्टपूर्वक

जा पार किया जा सके) तर्क जालों में फंस जाता है, इसलिये विचार के साथ ध्यान भी रखना पड़ता है।

३०३—हृदय में सिंह के समान बल धारण कर। भय ही महापातक है इसलिये बिल्कुल निर्भय हो जाओ फिर कोई भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा।

३०४—लोग अच्छा कहें या बुरा, किन्तु एक उच्च आदर्श को सर्वदा आंख के सामने रखकर सिंह के समान कार्य करते जाओ।

३०५—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों का अधिष्ठान में अत्यन्त अभाव है या ये तीनों भ्रान्ति रूप हैं। ये तीन काल में भी नहीं है।

३०६—काम कांचनादि से जब वैराग्य उत्पन्न हो तभी गुरू कृपा प्राप्त हुई समझना चाहिए।

३०७—गुरू कृपा प्राप्त हुई है कि नहीं, यह यदि देखना हो तो इसकी केवल एक परीक्षा है, वह यह कि काम कांचनादि की आसक्ति जितनी दूर हो उतने ही अंशों में गुरुदेव की कृपा उसके ऊपर हुई समझना चाहिए।

३०८—जिसको क्रोध रूपी अग्नि नहीं जलाती उसको मृत्यु भी नहीं मारती।

३०९—नाना रूप भासता है तो भी द्वैत कुछ नहीं सदा अनुभव रूप है। अद्वैत रूप है विभाग कल्पना तिस विषे कुछ नहीं।

३१०—प्रत्येक पदार्थ को परमात्मा निश्चय करना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ परमात्मा ही है।

३११—साकार झूठा है, निराकार सत्य है। सारा जगत निराकार है विकारहीन है। सब जगत को एक शिव रूप समझो।

३१२—भ्रान्ति ज्ञान बाहर स्थित है, सत्य ज्ञान बीच में है उसके भी मध्य में नारियल के जल के समान ब्रह्म चैतन्य है।

३१३—जिसने सत्य का आश्रय लिया है उसकी किसी भी बात में भूल हो जाने पर वह आपसे आप सुधर जायगी।

३१४—किसी के कार्यों में समालोचना मत करो, ऐसा करना भगवान के ही दोष गुण बतलाना है।

३१५—तभी हम चरितार्थ हो सकते हैं जब हम आपको छोड़कर दूसरों को नहीं देखें।

३१६—तू देख अपने आपको, न देख और कोई। जो देखोगे औरको तो दुःख बड़ा पाओगे। तेरो ही है रूप सब भयो है अनेक रूप जानकर, ऐसो फिर पीछे नहीं पछताओगे। माया सब झूठी, झूठी सब जग राशि जानोगे ऐसे तो मोहित न होओगे। आप ही में देख आप, आप ही रम्यो आप, आप ही में आप खेल आप ही रह जाओगे।

३१७—आकाश आदि यह सर्व जगत मृग तृष्णावत् है। याने मिथ्या है। यह पंच भूतात्मक विश्व अर्थात् पांच तत्वों से उत्पन्न जगत मरीचि जल के समान है।

३१८—यह जगत सब आत्ममय है भेद-अभेद इसमें कुछ नहीं हैं।

३१९—मेरे मानसिक शुभाशुभ कर्म कोई नहीं है। न शारीरिक शुभाशुभ कर्म मेरे हैं, और वाचिक शुभाशुभ कर्म मेरे नहीं हैं। मैं स्वभाव से ही निराकार सर्वव्यापी आत्मा हूं। मैं ही अविनाशी अनन्त शुद्ध और विज्ञान स्वरूप हूं। मैं सुख दुःख नहीं जानता हूं कि किसको होता है।

३२०—जैसे स्वप्न विषे एक ही जीव अनेकता को प्राप्त होता है तैसे ही जाग्रत में एक ही अनेक होकर प्रतीत हो रहा है।

३२१—जैसे सुषुप्ति से स्वप्न भासता है जैसे ही अद्वैत्त तत्व

आत्म विषे जगत भ्रम होता है। जैसे स्वर्ण विषे भूषण फुरते हैं, जैसे समुद्र बिषे तरंग फुरते हैं तैसे ही आत्मा विषे चतुर्दस प्रकार के भूतनाथ फुरते हैं।

३२२—श्रुति की दृष्टि में तो कुछ भूत या भौतिक पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ।

३२३—अतः संसार की असलियत परमात्मा स्वरूप में अन्तःकरण के विचार से दृष्टि में सृष्टि है, वाह्य सृष्टि नहीं है। क्योंकि जब अन्तःकरण जाग्रत में आता है सृष्टि दिखती है। सुषुप्ति में नहीं दिखती है।

३२४—द्वैत तो है ही नहीं, ऐसा समझ बिन खेद है। संसार तो है ही नहीं, ऐसा समझ बिन खेद है। सुख दुःख तो है ही नहीं, ऐसा समझ बिन खेद है। भय शोक तो है ही नहीं, ऐसा समझ बिन खेद है। शब्दादि तो हैं ही नहीं ऐसा समझ बिन खेद है।

३२५—विशाल ब्रह्माण्ड मैं स्वयं हूं मेरी ही आत्मा चराचर की आत्मा है।

३२६—महिलाओं और सज्जनों के रूप में मेरे आत्मन्। समग्र संसार, विशाल विश्व ही मेरा वास्तविक आत्मा है। मैं तुम हूं, तुम मैं हूं। मैं अनन्त एक हूं न कि यह शरीर!

३२७—यह सब शरीर विभिन्न दर्पणों के तुल्य है। और हमारी सच्ची आत्मा या निज स्वरूप का सब ओर ठीक वैसे ही प्रतिबिम्ब पड़ता है जैसे कि कुत्ता अपना प्रतिबिम्ब चारों ओर दिवालों में देख रहा था। इसी तरह एक अनन्त आत्मा विभिन्न दर्पणों में अपना प्रतिबिम्ब डालता है। मूर्ख लोग कुत्ते की तरह इस संसार में आते हैं और कहते हैं कि वह मनुष्य मुझे खा लेगा, अमुक मेरे टुकड़े कर डालेगा। ओह! इस संसार में ईर्ष्या और भय कितना है।

३२८—चिंतन करना ही दुःख है, चिंतन से रहित होना ही सुख है।

३२९—जो कुछ इन्द्रियों के द्वारा प्रतीत हो रहा है वह असत् है।

३३०—महिलाओं और भद्र पुरुषों के रूप में नित्य स्वरूप। भद्र पुरुषों और महिलाओं के रूप में सर्वशक्तिमान जगदीश्वर।

३३१—जब तुम श्रेष्ठ शुभ करो तब अश्रेष्ठ अशुभ कर्म करने से घृणा द्वेष न करो। किसी से घृणा द्वेष करने का अधिकार तुमको नहीं।

३३२—धीरवान वीर पुरुष किसी भी शुभ ध्येय को पूर्ण किये बिना बीच में नहीं छोड़ते।

३३३—संसार मुझ में है मैं संसार में नहीं आ सकता। यूनान और रोम मुझमें हैं, सूर्य और नक्षत्र मुझमें उदय और अस्त होते हैं।

३३४—जैसे स्वप्न विषे सब क्रिया होती है, सो भ्रम मात्र है। तैसे ही जाग्रत में सब क्रिया भ्रम मात्र हैं।

३३५—सब लोगों का महान ईश्वर मैं ही हूं।

३३६—सारे पदार्थ बुद्धि से भिन्न नहीं हैं। किन्तु सब पदार्थों के आकार को बुद्धि ही धारे है।

३३७—निर्बलता के अतिरिक्त संसार में कोई पाप नहीं है।

३३८—जिस निर्भयता से बिना किसी झिझक के तुम वृक्षों और नदियों की ओर देखते हो, ठीक उसी उत्साह से प्रत्येक व्यक्ति की ओर देखो।

३३९—यह दृश्य हम पर कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता। क्योंकि मिथ्या है।

३४०—संसार भर के पैगम्बर और सिद्ध महात्मा जो तुम्हारे आत्मज्ञान के नायक हैं सबके सब तुम्हीं में लीन हो जायेंगे

ज्योंही तुम अपनी सच्ची आत्मा सच्चिदानन्द में जाग उठेंगे।

३४१—यह सारा विश्व मस्तिष्क के संकल्प मात्र है।

३४२—मनुष्यों की आकृतियों, उपाधियों का धन, विद्या और रूपों का समान करना पाषाण पूजा है।

३४३—अपने पूर्ण अन्तःकरण से कहो अहं ब्रह्मास्मि (मैं ही ईश्वर हूं)।

३४४—तुम स्वयं विरोधियों को अपने चारों ओर खड़ा कर लेते हो, वे तुम्हें नहीं घेर सकते।

३४५—अपने आपको नित्य शान्त और प्रसन्न रखना अपना उद्योग, धन्धा, व्यापार पेशा वृत्ति, जीवन का एक मात्र लक्ष्य और उद्देश्य बना लो। इस संसार में आपका परम पावन कर्त्तव्य यही है जो आप पर ईश्वर ने डाला हुआ है। अपने आपको प्रसन्न रखना है। इसके सिवाय अन्य किसी बात की परवाह मत करो।

३४६—यह संसार तुम्हारा बनाया हुआ है बस संसार के इस भूत को अपने ऊपर सवार मत होने दो। सारा विश्व इस अकेले सिर में समाया हुआ है।

३४७—नित्य हंस मुख रहो, मुख को कभी मलिन न करो, यह निश्चय कर लो कि शोक ने तुम्हारे लिए जगत में जन्म ही नहीं लिया है। आनन्द स्वरूप में सिवा हंसने के चिन्ता को स्थान ही कहां है।

३४८—किसी के दोष को देखकर उससे घृणा न करो और न उसका बुरा चाहो। दूसरे के पापों को प्रकाश करने के बदले सुदृढ़ बनकर ढको।

३४९—यह विश्व केवल आकाश रूप है। हम सब एक आनन्द ही हैं ऐसा निश्चय कर लेने से आनन्द ही आनन्द हो जायगा।

३५०—मैं सर्वशक्तिमान परमेश्वर हूं, विश्व (ब्रह्माण्ड) का शासक हूं, प्रभुओं का प्रभु हूं, देवों का देव हूं, और संसार के भूतों का अध्यक्ष और अधिष्ठाता हूं। ऐसा निश्चय करो फिर तुम्हें कोई हानि या क्षति नहीं पहुंचा सकेगा।

३५१—मैं निस्सन्देह निराकार प्रभु हूं। मैं ओंम हूं, ओंम हूं, ओंम हूं। मेरे आनन्द को कोई वस्तु विगाड़ नहीं सकती। मेरे मार्ग में कोई भी बाधा नहीं हो सकती। ईश्वर, देवता, मनुष्य और पक्षी मेरे चपरास पहने हुए हैं। (गुलाम हैं)

३५२—बाहरी पदार्थों की अपेक्षा सत्य पर अधिक विश्वास रखो। अपनी इन्द्रियों के बहकाने में मत आओ।

३५३—सारा ब्रह्माण्ड एक शरीर है। सारा संसार एक शरीर है। जब तक आप हर एक से अपनी एकता का भान वा अनुभव करते रहेंगे तब तक सभी परिस्थितियां और आस पास की चीजें हवा और लहरें तक आपके पक्ष में रहेंगी।

३५४—अपने को ईश्वर का निर्भीक और स्वावलम्बी अवतार क्यों नहीं समझते ?

३५५—अपने परिश्रमों के पुरस्कार के लिए चिन्ता न करो। भविष्य की परवाह मत करो। संशयों को त्याग दो। सफलता असफलता का विचार न करो।

३५६—अपने ईश्वरत्त्व में सजीव विश्वास रखो, फिर कोई तुम्हें हानि न कर सकेगा। कोई भी तुम्हें क्षति न पहुंचा सकेगा।

३५७—वेदान्त के अनुसार सम्पूर्ण संसार ईश्वर से इतर और कुछ नहीं है। समग्र संसार परिपूर्ण है, समग्र संसार ब्रह्म है, मेरा ही अपना आप है, समग्र संसार अकेला है।

३५८—मैं तुम हूं, और तुम हम एक ही हैं। इसमें कोई भेद नहीं है।

३५९—जिस क्षण तुम ईश्वर भाव से परिपूर्ण हो जाओगे, उसी क्षण अनायास सदा के लिए जीवन शक्ति और उत्साह की धारा वहने लगेगी। सत्य को फैलाने का यही उपाय है।

३६०—यदि कोई मनुष्य तुम्हारी कोई चीज चुरा लेता है तो डरते क्यों हो वह मनुष्य और तुम एक हो और जो वस्तु वह चुराता है वह तुम्हारी और उसकी दोनों की है।

३६१—जैसे स्वप्न का विश्व स्वप्न वाले का रूप है, निद्रा दोष करके नहीं जानता। जब जागता है तब जानता है कि मैं ही था दूसरा कुछ नहीं था। तैसे यह प्रपंच सब तेरा ही स्वरूप है।

३६२—किसी भी भय तथा आतंक के आगे सम स्थिर बुद्धि द्वारा निशंक रहो और संतुष्ट, मृत्यु के लिए सदा अभय रहो और आत्मस्थ।

३६३—जो अपने से अतिरिक्त न कुछ देखता है, न सुनता है और न कुछ जानता है। वह अनन्त है। क्योंकि जब तक अपने सिवाय कोई दूसरी वस्तु भान होती है, तब तक आप सीमावद्ध और शान्त हैं।

३६४—तुम्हें इन्द्रियों से अथवा व्यक्तित्व से कोई भी वास्ता नहीं है, तो तुम अनन्त वस्तु हो जाते हो।

३६५—किसी वस्तु को पाने का रास्ता यही है कि उससे मुँह मोड़ लो।

३६६—विचार ऐसा करो मुझे इससे या उससे कोई प्रयोजन नहीं है, किसी जिम्मेवारी या भय से मेरा कोई सरोकार नहीं है। मैं किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं हूं। मुझे किसी का कुछ देना नहीं है। मैं आप ही स्वयं हूं, मैं प्रकाश हूं, आनन्द हूं।

३६७—संसार मुझे क्या आनन्द दे सकता है। सम्पूर्ण आनन्द मेरे भीतर से आता है। मैं ही सम्पूर्ण आनन्द हूं, सम्पूर्ण

महिमा और सम्पूर्ण सुख हूं।

३६८—अपने को ईश्वर समझो और फिर कोई रोग नहीं है।

३६९—सचमुच, सचमुच अपने ऊपर निर्भर करो और तुम सब कुछ प्राप्त कर सकते हो। तुम्हारे सामने असम्भव कुछ भी नहीं हैं।

३७०—प्रेम का अर्थ है अपने पड़ोसियों और सभी संसर्ग में आने वालों से असली तौर पर अपनी एकता और अभेदता का अनुभव करना।

३७१—अपने समीप की सब चीजों से बिना भय खाये स्थिर रहो।

३७२—दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं से बिना भयभीत हुए निश्चल रहो।

३७३—कभी किसी के दोष मत देखो।

३७४—निन्दा करने वालों की निन्दा से मैं क्यों मुरझाऊँ? प्रशंसा करने वालों की प्रशंसा से कैसे फूलूँ? मैं यह मानता हूं कि निन्दा से मैं घटता नहीं और प्रशंसा से मैं बढ़ता नहीं। जैसा हूं वैसा ही हूं। फिर उसे कोई खटका रहे ही नहीं।

३७५—जो मनुष्य सारे संसार के सामने तथा अपने इर्द-गिर्द अन्य सब लोगों के सामने निडर खड़ा होकर अपने ईश्वरत्व का निरूपण कर सकता है और ईश्वर से अभेदता पहचान सकता है, वह इन सब लोगों की अवज्ञा करने को समर्थ है।

३७६—ये भौतिक तत्व इन्द्रियों के भ्रान्ति के सिवाय और कुछ नहीं है।

३७७—किसी भी अवस्था में मन को व्यथित मत होने दो। आत्मा पर विश्वास कर उसी पर निर्भर हो जाओ। फिर निर्भयता तो तुम्हारी दासी बन जायगी।

३७८—सिसक चीख मत रो न कभी तू,
कर अविघ्न आराम सदा तू।
दूर फेंक सब भय बाधायें,
गुण गंधर्व सभी तब गावें।
शत्रु मित्र शंका नहीं कोई,
अमर न छू सकता है कोई।
सूर्य चन्द्र गेंद क्रीड़ा की,
घर महरावे इन्द्र धनुष की।
यह अपार संसार पसारा,
है कौतुक मय स्वप्न तिहारा।
यह सब तेरे भीतर ही है,
यद्यपि दिखत बाहर ही है।

३७९—यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म से भिन्न नहीं है, सबका सब ब्रह्म ही है।

३८०—यदि संसारिक सफलता मुझे प्राप्त भी हो तो मैं उसे कभी न भोगूंगा। ब्रह्म ही मेरा सब तरह का आनन्द है।

३८१—माता के लिए अपने सभी बच्चे अयाने और सयाने प्यारे होते हैं। सच्ची शिक्षा का अर्थ है विश्व को परमेश्वर के नेत्रों से अभ्यास करना।

३८२—जब हम सर्व से अभेद होते हैं, तब धोखेवाज हमारे पास आने का साहस नहीं कर सकते।

३८३—जो अपने पड़ोसियों के अपराधों पर किसी रूप से बिगड़ते और परेशान होते हैं वे अज्ञानी हैं।

३८४—अपनी वर्तमान अवस्था को, वह चाहे जैसी हो उसी को महिमान्वित करने से, अपनी सब वर्तमान स्थिति को सर्वोच्च मानने से ही तुम्हारे हृदय में आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान अनायास उदय होने लगेगा। आत्म साक्षात्कार के पीछे दौड़ने से जैसे वह

कहीं दूर की चीज हो आत्मज्ञान नहीं होता।

३८५—मेरी ही आत्मा सबकी आत्मा है।

३८६—अरे चोर, अरे निन्दक, अरे डाकू! आओ, स्वागत, शीघ्र आओ, अरे तुम्हें कोई भय नहीं! मेरा अपना आप आत्मा तेरा है, तेरा मेरा है।

३८७—चोरों और चोरी का डर दूर फेंक, उठ जाग, उठ देख तू क्या है?

३८८—मुझे कभी कोई हानि नहीं पहूंच सकती। केवल मेरा ख्याल ही मेरे पीछे पड़ा है।

३८९—निर्भयता से प्रसन्न चित्त होकर सत्य के सागर में प्रवेश करो। डरते और धबराते क्यों हो?

३९०—मैं तो महिलाओं और सज्जनों के रूप में अपने आपसे कहता हूं। अपने आपसे बोलता हूं। अपने आप को ही देखता, सुनता और समझता हूं। अपने से भिन्न कुछ भी नहीं है।

३९१—मैं केवल दृश्य मात्र का साक्षी हूं। कदापि उन नाम रूपों में फंसा नहीं हूं। सदा उनसे ऊपर हूं।

३९२—जैसे स्वप्न में सारा स्वप्न का संसार अपने से वाहर दिखता है पर सचमुच यह सब तमाशे हमारे भीतर होते हैं। इसी तरह सारा भौतिक और मानसिक जगत (स्वप्न और जाग्रत जगत) हमारे अन्दर में अवस्थित है। पर दिखता वाहर है यही हमारी भ्रान्ति है।

३९३—सफल वे ही होते हैं जो सदैव नत मस्तक और हंस मुख रहते हैं। शोकातुर लोगों की उन्नति नहीं हो सकती। प्रत्येक काम को हिम्मत और शान्ति के साथ करो। यही सफलता का साधन है।

३९४—दुःखों का ख्याल करने वाला दुःख और कष्ट अपने

ऊपर लाता है और सबका शुभचिन्तक स्वयं सब हो जाता है।

३९५—अगर सूर्य मेरी दायीं ओर चाँद मेरी बायीं ओर आकर धमकाने लगे कि पीछे हट जाओ, तब भी मैं पीछे नहीं हटूँगा।

३९६— जाके मन में अटक है,
वाको अटक यहां।
जाके मन में अटक ना,
वाको अटक कहां॥
किंचित मात्र द्वैत नहीं हुआ,
ना कोई जन्मा ना कोई मरा।
न मैं हूं, न तू है, न है यह पसारा,
यही ब्रह्म विद्या यही ज्ञान सारा॥
ना ही मैं हूं ना ही जगत है,
नभ सम शून्य सभी है।
एक आत्मा सर्वत्र पूर्ण है,
कुछ भी अन्य नहीं है॥

३९७—मुझे अपनी चित्रकारियों (संसार) को विभिन्न दृष्टियों से देखने में ही मज़ा आता है। यहाँ एक स्थान में, मैं अनुदार की भांति देखता हूं और वहां दूसरे स्थल से एक उदार की भांति उनका अवलोकन करता हूं। पूरन् की दशा में मैं अपनी दायीं ओर से इन्हें देखता हूं और एक आलोचक के रूप में मैं ही बायीं ओर से इनका निरीक्षण करता हूं। ये सारे रूप और झाँकियाँ मेरी ही तो हैं। सभी दृष्टियाँ मेरी अपनी हैं।

३९८—देखने में मैं यद्यपि एक हो नहीं सकता फिर भी मैं एक हूं।

३९९—क्यों नहीं ईश्वर की नाईं प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक

परमाणु, प्रत्येक तारा और वृक्ष पर अपना स्वत्व स्थापित करते—यही वेदान्त है।

४००—विद्वानों, दार्शनिकों और आचार्यों की धमकियां और अनुग्रह आलोचनायें और सम्मतियां ब्रह्मज्ञानी पर कुछ प्रभाव नहीं डालतीं।

४०१—प्रसन्नता के साथ तारागण अपने चमकने का कार्य कर रहे हैं। क्योंकि वे अपने आप में निर्द्वन्द्व रहते हैं और अपने से भिन्न किसी जीव के समस्त चिन्ता रूपी ज्वर को देखकर क्षीण नहीं होते हैं।

४०२—सत्य ही भलाई है। सत्य का अनुसरण करना ही भलाई है। सत्य तुम्हें दृढ़ बनाता है, सत्य तुम्हें स्वतन्त्र बनाता है। जैसे बच्चे हम लोगों को देखते हुए भी किसी व्यक्तित्व का आरोप नहीं करते, मानो किसी गैर को न देखकर अपने आपको देख रहे हों, वैसे ही हमें देखना चाहिये।

४०३—सफलता की खोज बन्द कर दो। जब ऐसा करोगे, सफलता तुम्हें अवश्य खोजती फिरेगी।

४०४—कुछ नहीं चाहते हुए सदैव काम में जुटे रहना, चिन्ता न रखते हुए भी सदैव कार्य परायण रहना।

४०५—वेदान्त में सदैव कर्म का अर्थ होता है वास्तविक आत्मा के साथ एक होकर हरकत करना, और अखिल विश्व के साथ एक स्वर हो जाना। उस परम अद्वितीय तत्व के साथ निस्वार्थ संयोग प्राप्त करना ही एकमात्र सच्चा कर्म है।

४०६—चिन्ता, भय, शोक, व्यग्रता और व्यथा को दूर फेंक दो। उधर कतई ध्यान न दो।

४०७—हे व्यष्टिरूप अनन्त ! तुम अपने पैरों पर खड़े होने का साहस करो, तुम समस्त विश्व का भार उठा लोगे।

४०८—सब कुछ मेरे भीतर है बाहर कुछ भी नहीं है।

४०९—मुझे नितान्त स्मरण नहीं कि मैं कभी पैदा हुआ था। निस्सन्देह मैं कभी पैदा नहीं हुआ था और संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो मुझे निश्चय करा सके कि मैं कभी मर सकता हूं।

४१०—वास्तविक शिक्षा तो उस समय प्रारम्भ होती है, जब मनुष्य सभी प्रकार की बाह्य सहायताओं से मुँह मोड़कर अपने अन्तर के अनन्त स्रोत की ओर अग्रसर होता है।

४११—जो समग्र संसार के साथ अपने को अभिन्न अनुभव करता है, समग्र संसार उसके साथ काम करने के लिये बाध्य है।

४१२—जितने भी चराचर पदार्थ हैं, वे सब मिथ्या (अवस्तु मात्र) हैं, धिक्कार है उसे जो दिखावटी रूपों पर सत्य को न्योछावर कर देता है।

४१३—मैं सत्य हूं, मैं देह की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये आत्मघात करने को कदापि तैयार नहीं हो सकता।

४१४—या तो तुम जगत के प्रभु बनो, नहीं तो जगत तुम्हारे ऊपर प्रभुत्व जमा लेगा।

४१५—हरगिज मत सोचो कि तुम कभी भी नीचे घसीटे जाओगे, अथवा कभी नीचे ढकेल दिये जाओगे।

४१६—कभी किसी वस्तु को या व्यक्ति को तुच्छ न समझना चाहिये।

४१७—तुम्हारे सामने एक पापी, एक दुरात्मा खड़ा हुआ है। पर तुम उसके प्रति अपने चित्त में किसी प्रकार के द्वेष, घृणा अथवा शत्रुता के भावों को स्थान मत दो। उसके पास ऐसे पहुंचो जैसे उसके गर्भ में अनन्त शक्ति का भण्डार भरा हो।

४१८—जो कोई तुम्हारे पास आवे, उसे परमेश्वरवत ग्रहण करो। पर साथ ही साथ अपने को भी तुच्छ मत समझो।

४१९—पेट में अधिक ठूंसना, अनुचित भोजन का व्यवहार सारे पापों की जड़ है। अतः अपने भोजन के सम्बन्ध में सदा सावधान रहो और तुम अपने रोग को अच्छा कर लोगे।

४२०—त्याग से सदैव आनन्द मिलता है। जब तक तुम्हारे पास एक भी चीज शेष है, तब तक तुम चीज के बन्धन में बंधे ही रहोगे। घात प्रतिघात सदैव बराबर विरोधी होते हैं।

४२१—यह सारा संसार हमारे ही विचार की सृष्टि है। यह बात इतनी सच्ची है जैसे दो और दो चार। यह बड़े साहस की घोषणा है किन्तु है अक्षरशः सत्य।

४२२—जब अभ्यास को न त्यागेगा तब अवश्य तरेगा। ये भासमान पदार्थ सभी एक ही प्रकार के हैं।

४२३—जीव भी अपने स्वप्न सृष्टि का विराट है। परन्तु उसको प्रमाद करके भासता नहीं।

४२४—अतः इन बाह्य दुःखों और चिन्ताओं को आनन्द से आने दो। ऐसे अड़ोस-पड़ोस में ही वेदान्त को व्यवहार में लाओ।

४२५—अद्वैत अवस्था में देखने, सुनने, समझने की कोई चीज ही नहीं रहती, सब कुछ आतमा ही हो जाता है।

४२६—त्याग का अर्थ वैराग्य या वानप्रस्थपना नहीं है। त्याग का अर्थ प्रत्येक वस्तु को पवित्र बनाना है। बल्कि उसे ईश्वर समझना है। प्रत्येक वस्तु में परमात्मा का दर्शन करना ही वेदान्त के अनुसार त्याग है।

४२७—एक मैं ही मैं हूं यह जो ज्ञान है। द्वैत नहीं फिर सोच का क्या काम है।

४२८—भय, शोक, चिन्ता मुझ में कभी हो ही नहीं सकती। क्या मैं मुक्त नहीं हूं ?

४२९—मैं देवों का परम देव हूं, प्रकाशों का प्रकाश हूं। क्या मैं प्रति क्षण कीटों, पशु, पक्षियों का नाश नहीं कर रहा हूं ? मैं परमेश्वर सदा यह काम कर रहा हूं। फिर भी मैं सदा निर्लिप्त और निर्मूल हूं।

४३०—आपका वर्तमान अड़ोस-पड़ोस आप ही की रचना है।

४३१—विना इस जीवन में मृत्यु लाभ के तुम सुख भोगी और ईश्वर प्रेरणा में नहीं हो सकते।

४३२—जब आप कोई काम करके लोगों की समालोचनायें और अपने अनुकूल आलोचनायें तथा लोगों की तारीफें व लोगों की खुशामदें अंगीकार करते हैं तब आपकी शक्ति तुरन्त जाती रहती है। वह तुरन्त निकल जाती है।

४३३—यदि प्रार्थना का अर्थ इच्छा करना, कामना करना, अभिलाषा करना, मांगना और याचना करना माना जाय तो क्या ऐसी प्रार्थनायें सुनी जाती हैं ? कोई चीज मांगनेसे कभी नहीं मिलती।

४३४—जिस क्षण हम संसार के सुधारक बनकर खड़े होते हैं, उसी क्षण हम संसार के बिगाड़ने वाले बन जाते हैं।

४३५—जब तुम आत्मा से विमुख होंगे सब पदार्थ तुम्हें छोड़ जायेंगे। जब तुमने अपनी अन्तरात्मा का दृढ़ निश्चय से आश्रय कर लिया तब सारा संसार कुत्ते के समान तुम्हारे पैर चाटने की इच्छा करेगा। संसार के पीछे मत दौड़ो।

४३६—यदि आप अपना यह विश्वास बना सकते हैं कि "आप सदैव से मुक्त हैं" तो आप विश्व ब्रह्माण्ड के उद्धारक हो जाते हैं। यदि आप यह निश्चय करें कि "आप शरीर कभी नहीं थे" यदि आप वेदान्त के स्वर में स्वर मिला कर विश्वास करें कि "आप सदैव से मुक्त हैं" तो आप अखिल जगत के मोक्षदाता हो जाते हैं।

४३७—"मैं सर्व हूं, मैं अखिल विश्व हूं, मैं अनन्त हूं" जब आप ऐसा अनुभव करने लगते हैं, तब आप समग्र हो जाते हैं और शारीरिक रोग, पीड़ा, व्यथा, चिन्ता तब दूर हो जाती है, उड़ जाती है, और छिन्न-भिन्न हो जाती है।

४३८—कृपा करके उन स्वार्थमय उपायों और अभिप्रायों को दूर हटा दीजिये जो आपको परिछिन्न रखते हैं। सब वासना राग है, सब वासना व्यक्तिगत या शरीरगत प्रेम है। सब वासना आसक्ति है। इसे फेंक दो और स्वयं पवित्र रूप हो जाओ। अगर आप इसे प्राप्त कर लें, तो आपका शरीर अवश्य स्वस्थ हो जायगा। आपकी बुद्धि अवश्य पूर्ण स्वस्थ होगी।

४३९—यदि लोग आपकी प्रशंसा नहीं करते तो कोई परवाह नहीं, यदि आपकी ख्याति नहीं है तो क्या चिन्ता ? संसार की दृष्टि में जो सफलता है वह तो केवल इन्द्रियों की धोखेबाजी है। तुम तभी सफलता प्राप्त करते हो जब तुम निश्चय करते हो कि मेरी विराट से अर्थात् ईश्वर से एकता है और सफलता मैं स्वयं हूं।

४४०—यदि संसार के दूसरे पदार्थ या सुख आ मिलते हैं तो तुम्हें कहना चाहिए कि शैतान ! हट मेरे सामने से, तेरे हाथों से मुझे कुछ नहीं चाहिये। तब देखो तुम कितने सुखी होते हो। तब तुम स्वर्ग स्वयं हो जाते हो।

४४१—परमात्मा पर विश्वास रख कर अपनी जीवन डोरी उसके चरणों में सदा के लिये बांध दो फिर निर्भयता तो तुम्हारे चरणों की दासी बन जायगी।

४४२—कुछ लोग कहते हैं कि स्त्रियां, बालक और शूद्र ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं हैं। यही वह दृष्टि विन्दु है जिसने वेदान्त को एक धार्मिक सिद्धान्त ही बनाये रखा। उसे व्यवहार

में नहीं आने दिया। वेदान्त की महत्ता मानी गई पर उसका व्यवहार सन्देहात्मक ही रहा।

४४३—कोई मनुष्य अपने ज्ञान के विरुद्ध नहीं जा सकता, कोई जान-बूझकर कुएं में न कूदेगा। 'यह करो', 'यह न करो' ऐसी विधि निषेधात्मक आदेशों से मनुष्य में पशुत्व जाग्रत होता है।

४४४—अज्ञानी को क्रिया विषे द्वैत भासता है, अरु हमको क्रिया विषे भी अद्वैत भासता है।

४४५—जैसे स्वप्न विषे बड़े क्षोभ होते हैं तो भी जाग्रत वपु को स्पर्श नहीं करते। कहते हैं कि वह विषे कुछ हुए नहीं, आभास मात्र है। तैसे ही जगत की उत्पत्ति प्रलयादिक क्षोभ विषे आत्मसत्ता को स्पर्श नहीं करते हैं।

४४६—जैसे स्वप्न विषे एक अपने आप होता है, निद्रा दोष करके द्वैत भासता है। तैसे एक अब भी आत्मा अद्वैत रूप है, अविचार करके नानत्व भासता है।

४४७—जैसे सूर्य को अन्धकार नहीं भासता, तैसे हमको द्वैत नहीं भासता। सर्व शब्द आत्म रूप ही है।

४४८—जैसे स्वप्न सृष्टि अपने आप होती है, निद्रा दोष करके भिन्न भासता है तैसे यह जगत अपने आप है, परन्तु अज्ञान करके भिन्न भासता है।

४४९—जो बोध समय द्वैत कुछ नहीं भासे तो अबोध समय भी जानिये कि द्वैत कुछ नहीं हुआ। अपनी कल्पना ही जगत रूप होकर भासती है।

४५०—जैसे स्वप्न सृष्टि अपनी कल्पना रूप है, परन्तु निद्रा दोष करके भिन्न हो भासती है, तिस विषे राग द्वेष उपजता है, अरु जागे तो सब क्षोभ मिट जाते हैं, तैसे अज्ञान करके जगत

सत्य भासता है, तिस विषे राग द्वेष भासते हैं। ज्ञान करके सब शान्त हो जाते हैं।

४५१--यदि तुम दिव्य दृष्टि पाना चाहते हो तो तुम्हें इन्द्रियों का क्षेत्र त्याग देना होगा।

४५२—जो प्रलयकाल के मेघ आणि गर्जे अरु समुद्र उछले अरु पहाड़ के ऊपर पहाड़ पड़े ऐसे भयानक शब्द होवे तो भी ज्ञानवान के निश्चय विषे कुछ द्वैत नहीं भासता कहते जो है नहीं। अरु अज्ञानी को भासता है।

४५३—ज्ञान और सच्ची शिक्षा सबके सब भीतर से निकलती है, पुस्तकों और बाहरी मस्तिष्कों से नहीं।

४५४—अपने आपको शरीर और उसके अड़ोस-पड़ोस से ऊपर उठाओ, मन और उसकी इच्छाओं से तथा संसार और उसकी सम्मतियों के ऊपर स्थित रहो।

४५५—सूर्य की ओर ऐसे देखो जैसे दर्पण में अपने आपको देखते हो, द्वैत को गन्ध नहीं सर्वोच्च मेरी आत्मा है। मैं वही हूं। प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक प्राणी को अपने आप देखो।

४५६—एक वेदान्ती सूर्य के साथ अपना उसी प्रकार का सम्बन्ध समझता है जैसे चन्द्रमा का सूर्य के साथ है। चन्द्रमा आप ही आप चमकता प्रतीत होता है, परन्तु सारी चमक सूर्य से आती है। इसी प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से प्रज्वलित प्रतीत होता है, परन्तु वह प्रकाश उसे मुझसे प्राप्त होता है।

४५७—मैं ओ३म् की उपासना नहीं करता, ओ३म् ही मुझे जपता है।

४५८—सूर्यों का सूर्य मैं हूं, प्रकाशों का प्रकाश मैं हूं, मैं राजाओं का राजा हूं। बुरे विचारों और सांसारिक इच्छाओं को मेरे सन्मुख आने का अधिकार नहीं। बड़े से बड़ा भी मैं हूं और नीच से नीच भी मैं हूं, सब मैं मार्ग सुगम है।

४५९—भय, चिन्ता और बेचैनी से ऊपर उठो। तुम्हें ज्ञान का अनुभव होगा।

४६०—अपने प्रति सच्चे और निर्मल बनो। अपने अनुभव के अनुसार जीवन बनाओ। अपने अनुभव से अधिक प्रवीण और कोई शिक्षक संसार में नहीं है।

४६१—दूसरों को हित करने की चाल ही हमारे आकर्षण केन्द्र को हमसे बाहर खड़ा कर देती है।

४६२—चारों ओर अनन्त भविष्य सम्पूर्ण देश में केवल एक ही परमात्मा का अस्तित्व है और वह मेरा अपने आप ही है। फिर डर किस का है।

४६३—बुखार आने पर मैं विकल नहीं होता, मित्रवत उसका स्वागत करता हूं और उस समय ऐसे आध्यात्मिक तत्व चमक उठते हैं जो अन्यथा कभी प्रकट नहीं हो सकते थे। हर एक दशा स्वास्थ्य रूप है।

४६४—नहीं, किसी जर्राह, वैद्य, किसी को मत बुलाओ। मेरे लिये मेरा दर्द ही पूर्णतः हर्ष है।

४६५—तुच्छ लाभों और हानियों पर तुम्हारा ध्यान क्यों इतना जम जाय कि अनन्त आनन्द (आत्मा) से ध्यान हट जाय ?

४६६—अपने आप में आनन्द प्राप्त करना कठिन है, पर उसे अन्यत्र प्राप्त करना तो असम्भव है। मैं ही नीचे, मैं ही पीछे, मैं ही सामने और मैं ही संसार का सब कुछ हूं। मैं ही पूर्णानन्द एक रस ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हूं। अर्थात् सेवक भाव रहित अद्वैत आत्मा हूं।

४६७—जिस तरह मछलियां जल राशि में ही रहती हैं। जिस तरह चिड़ियां वायुराशि में रहती हैं। उसी तरह तुम प्रकाश निधि में रहो, प्रकाश में ही रहो, चलो फिरो अपना अस्तित्व प्रकाश में ही रखो।

४६८—मैं संसार का प्रकाश हूं। प्रकाश के रूप से मैं ही सब वस्तुओं में व्याप्त हूं। इन विचारों को निरन्तर आपको अपने सामने रखना चाहिये।

४६९—ऊं ऊं सारा विश्व मुझ में समाया हुआ है। सारी दुनिया मैं हूं, मेरा ही रुधिर मांस है।

४७०—दो और तीन अनेकता मिथ्या है। द्वैत के लिये कोई स्थान नहीं सदा एक है।

४७१—इस शरीर को अपने पैरों से कुचल डालो, यह शरीर मैं नहीं हूं यह अनुभव करो।

४७२—योगी श्रेष्ठ के लिये शुभाशुभ वातें आत्मस्वरूप ही होने के कारण कभी क्लेश कारक नहीं होतीं।

४७३—इस तत्व के विषय में कुछ भी भ्रम या भ्रान्ति नहीं है कि मैं ही समस्त शरीरों में निवास करता हूं और सारा विश्व मुझ में निवास करता है। विश्व और मैं विल्कुल एक हैं और एक दूसरे से मिले हुए हैं। सारा विश्व मेरा ही संकल्प है, मुझ से भिन्न कुछ नहीं है।

४७४—अपने शरीर के रोम-रोम में ओ३म् का उच्चारण करो। पहले धीरे-धीरे प्रारम्भ करो, ध्वनि पहले गले से निकलती है, फिर वक्षस्थल, फिर और अधिक नीचे से, यहां तक कि रीढ़ की हड्डी के नीचे से निकलने लगती है। बस विद्युत के धक्के से तुरन्त सुषुमा नाड़ी खुलती है। रोग मात्र के साथ कीटाणु भाग खड़े होते हैं।

४७५—"सब प्रकार के अत्याचारों का प्रारम्भ दयालुता से होता है" यह कहावत इतनी सच्ची है कि उसकी सत्यता में सन्देह नहीं हो सकता।

४७६—जहां जहां ईर्षा-द्वेष प्रतिस्पर्द्धा और दलवन्दी के वशीभूत होकर अपने 'समान' से संघर्ष करने में शक्ति का

अपव्यय करने के बदले 'समान' से मैत्री स्थापित कर ली जाती है वहां 'असमान' के साथ संघर्ष में विजय सदा निश्चिन्त है।

४७७—जहां 'असमान' के साथ भी प्रेम का पोषण किया जाता है, वहाँ प्रकृति के साथ संघर्ष में विजय और सफलता निश्चित हो जाती है। प्रकृति के तत्वों पर विजय पाना सहज हो जाता है।

४७८—प्रकृति के साथ संघर्ष करने का अर्थ है कि हम स्थूल जगत के स्तर पर भी उस परम तत्व का अनुभव करते हैं कि "मैं ही सबकी शासक आत्मा हूं"। संघर्ष तीन प्रकार का है : (१) असमान से, (२) समान से और (३) प्रकृति के विरुद्ध।

४७९—दोष तभी दिखाई देते हैं जब प्रेम के अभाव से हमारे लोचन पांडु रोग ग्रस्त रहते हैं।

४८०—यदि साधक अभ्यास के मार्ग में उसी प्रकार आगे बढ़ता चला जाता जिस प्रकार उसने आरम्भ में उस मार्ग पर चलने के लिये पैर उठाया था, तो निश्चय ही आपुष्य सूर्य के अस्त होने से पहले ही और जीवन रूप दिन रहते ही सोऽहम् सिद्धि के स्थान पर अवश्य पहुंच जायगा।

४८१—लोग द्रुतगति से उन्नति क्यों नहीं करते ? क्योंकि बाहरी सम्मतियां, विचार धाराओं का बड़ा भारी बोझ हिमालय की तरह उनकी पीठ पर लदा रहता है।

४८२—तुम्हारे चित्त में ऐसी शिरका (शराब) होना चाहिए कि उसमें पड़ते ही दुनिया गल जाय। विश्व के गलते रहते रहने पर भी आत्मज्ञान की सार्वभौमिक धारा में भी उसकी ज्योति सदा पारदर्शक रहती है। ठीक तरह से विचार करो, फिर चाहे आसमान गिरे या पृथ्वी फटे, तुम्हारी उन्नति का संगीतमय पथ बराबर खुला ही रहेगा। न कोई शत्रु कभी तुम्हें देखेगा और न तुम्हें उस स्थिति में शत्रु का ख्याल तक ही होगा।

४८३—न मेरा कोई शत्रु और न मैं किसी का शत्रु। मैं विश्व का कल्याण हूं। "मैं सब वस्तुओं में, सब देहों में वर्तमान हूं। सब जन्तुओं में मैं वर्तमान हूं, मैं ही यह जगत हूं। सम्पूर्ण जगत ही मेरा शरीर है। जितने दिन एक भी परमाणु शेष है उतने दिन मेरी मृत्यु की सम्भावना ही क्या है। कौन कहता है कि मेरी मृत्यु होगी" ऐसे ही समय निर्भीक अवस्था आ जाती है।

४८४—मैं तो सकल वस्तुओं का ज्ञाता स्वरूप हूं। यह जगत एक अखण्ड रूप है।

४८५—यदि तुम जगत का उपकार करना चाहते हो तो जगत के ऊपर दोषारोपण करना छोड़ दो। परमार्थतः जगत के एक अखण्ड स्वरूप हो तुम, मैं, सूर्य, तारे—ये सभी एक जड़ समुद्र के विभिन्न अंशों के नाम मात्र है। यह सब एक ही अखण्ड जड़ राशि है। केवल नाम रूप से पृथक्-पृथक् है उसके एक बिन्दु का नाम सूर्य है, एक का नाम चन्द्र, एक का तारा, एक का मनुष्य आदि यह जो भिन्न-भिन्न नाम हैं भ्रमात्मक हैं। इसी जगत को एक दूसरे भाव से देखने पर यह एक विशाल चिन्ता समुद्र के समान प्रतीत होगा जिसका एक-एक बिन्दु एक-एक मन है। प्रत्येक व्यक्ति केवल एक-एक मन है, तुम एक मन हो, मैं एक मन हूं इत्यादि। इसी जगत को ज्ञान की दृष्टि से देखने पर, अर्थात् जब आंखों पर से मोह का पर्दा हट जाता है, जब मन शुद्ध हो जाता है तब वही नित्य शुद्ध, अपरिणामी, अविनाशी, अखण्ड, पूर्ण स्वरूप पुरुष के रूप में प्रतीत होगा।

४८६—सब से बड़ा मिथ्या ज्ञान यह है कि हम शरीर हैं जो न हम कभी थे न कभी हो सकते हैं। हम जगत के ईश्वर हैं।

४८७—पापी और दुष्ट मनुष्य ही बाहर पाप देख पाता है। किन्तु साधु मनुष्य को उसका बोध नहीं होता। अत्यन्त असाधु

पुरुष इस जगत को नरक स्वरूप देखते हैं। मध्यम श्रेणी के लोग इसे स्वर्ग स्वरूप देखते हैं और जो पूर्ण सिद्ध पुरुष हैं वे साक्षात् भगवान के रूप में ही देखते हैं।

४८८—समस्त ब्रह्माण्ड एक चित्र के समान है। सभी वस्तुओं में ईश्वर बद्ध है। प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक भाव में, प्रत्येक चिन्ता में ईश्वर पहले ही से स्थित है इसी प्रकार समझ कर हमें अवश्य ही कार्य करते जाना होगा। इसी प्रकार करने पर कर्मफल तुमको लगेगा ही नहीं।

४८९—अतएव बार-बार असफल हो जाओ तो भी कोई हानि नहीं है, सहस्त्रों बार इस आदर्श को हृदय में धारण करो, किन्तु सहस्र बार असफल होने पर भी फिर एक बार प्रयत्न करो। यदि सब वस्तुओं में इसको (ब्रह्म को) देखने में तुम सफल न हों तो कम से कम एक ऐसे व्यक्ति में जिसको तुम सबसे अधिक प्रेम करते हो, उसके दर्शन करने की चेष्टा करो। इसी प्रकार तुम आगे बढ़ सकते हो।

४९०—जो दुनिया और उसके झंझटों में सबसे अधिक फंसे हुए हैं उन्हींको वेदान्त की सबसे अधिक जरूरत है।

४९१—एक अविवाहित मनुष्य के लिये आत्मानुभव उतना सहज नहीं है जितना विवाहित और पारिवारिक जीवन को यथार्थ रीति से पालन करने वाले मनुष्य के लिये।

४९२—पञ्चेन्द्रिय ग्राह्य जगत में मनुष्य इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि वह उसे सहज में त्यागना नहीं जानता।

४९३—जगत के पाप और अत्याचार की बात मत कहो। किन्तु तुम्हें जगत में अब भी जो पाप देखना पड़ता है उसके लिये रोदन करो। अपने लिये रोओ कि तुम्हें अब भी सर्वत्र पाप देखना पड़ता है।

४६४—थकावट के सभी अवसरों पर ऊं का उच्चारण करो—ऊं, ऊं, ऊं।

४६५—'बहुधन त्याग दो' अपना शब्द ज्ञान भूल जाओ, सबसे छोटे बन जाओ—ऐसा करने से मेरे समीप आओगे।

४६६—यदि हम जान पायें कि इस आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है और जो कुछ है सब स्वप्न मात्र है, तो इस जगत में दुख-दारिद्र्य, पाप-पुण्य कुछ भी हमको चंचल कर नहीं सकेगा।

४६७—आपसे पृथक् ईश्वर नहीं है, आपसे यथार्थतः जो आप हैं उससे श्रेष्ठतर ईश्वर कोई नहीं है। सब ईश्वर अथवा देवता ही आपकी तुलना में क्षुद्रतर हैं।

४६८—"हम नित्य मुक्त हैं"। किसी काल में भी हम बंधे नहीं हैं। अनन्तकाल से हम इस जगत के ईश्वर हैं।

४६९—भला-बुरा वही देखता है जिसके निज के भीतर भला-बुरा होता है। दूसरे की देह को वही देखता है जो अपनी देह को समझता है।

५००—अतएव जगत में जो कुछ है, सबका ही पहले अच्छा कहकर ध्यान करना होगा, क्योंकि वे उसी पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति है।

५०१—ज्योंही हम भले-बुरे की इन भ्रान्त धारणाओं को छोड़ देंगे त्योंही यह स्वर्ग में परिणत होगी।

५०२—मन में भय, अशान्ति, उद्वेग और विषाद को स्थान मत दो। सदा शान्त, निर्भय और प्रसन्न रहने का प्रयत्न करो।

५०३—यह जो कुछ प्रपंच है बिना हुआ ही भास रहा है। परमार्थदर्शियों को इसके प्रति आदर नहीं होता। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इसीका नाम प्रपंच है। परमार्थ तत्व इसके सबसे विलक्षण, इसमें अनुमत तथा इनका अधिष्ठान और साक्षी है।

५०४—यह सारा लौकिक और वैदिक व्यवहार अविद्या का ही विषय है।

५०५—न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्ष है और न मुक्त ही है यही परमार्थता है।

५०६—यदि तुमने अपने शरीर के लिये चैन और आराम चाहा, यदि विलासिता और इन्द्रियों के सुखों में तुमने अपना समय नष्ट किया तो तुम्हारी खैर नहीं है। तुम बराबर काम करने की नीति बरतो। सफलता का पहला सिद्धान्त है काम वा विश्रामहीन काम। यदि कोई इस सिद्धान्त पर अमल करे तो आप देखेंगे कि छोटा बनना जितना सहज है, बड़ा बनना भी उतना ही सहज है।

५०७—काम में अपने तुच्छ अहंकार अर्थात् परिछिन्नात्मा को भूल जाओ और दिलोजान से उस काम में लग जाओ, तुम सफल होगे। यदि तुम विचार कर रहे हो तो विचार ही बन जाओ तब तुम्हें सफलता होगी। यदि तुम काम में लगे हो तो स्वयं काम ही बन जाओ और सफलता का यही उपाय है।

५०८—भूतकाल पर बिना खिन्न हुए और भविष्य की बिना चिन्ता किये जीवित वर्तमान में काम करो, यह भाव तुम्हें सब अवस्थाओं में प्रसन्न रखेगा। जो कुछ हमें प्राप्त है उसका सदुपयोग ही अधिक प्रकाश पाने का साधन है।

५०९—किसी वास्तविक और उत्सुक कार्यकर्ता को एक आवश्यक नियम के अनुसार अपने मार्ग में कहीं भी अँधेरी भूमिं नहीं मिलती।

५१०—भावी सफलता के लिये अशान्ति वा कालव्यग्रता प्रायः स्वयं ही असफलता का कारण होती है।

५११—ज्योंही तुम सफलता की ओर अपनी पीठ फेरते हो, ज्योंही तुम परिणामों की चिन्ता त्याग देते हो, ज्योंही तुम अपनी

उद्योग शक्ति अपने उपस्थित कर्तव्य पर एकाग्र करते हो त्योंही सफलता तुम्हारे साथ हो जाती है। अतः सफलता को अपना लक्ष्य न बनाओ, तभी सफलता तुम्हें ढूँढ़ेगी।

५१२—अपने प्रति होने वाले अन्याय को सहन करते हुए यदि अन्यायकर्ता को क्षमा कर दिया जाय तो द्वेष प्रेम में बदल जाता है।

५१३—दृश्य का सम्बन्ध सुख-दुःख में आबद्ध करता है और दृश्य से असंग होने पर किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता।

५१४—अपना निरीक्षण ही वास्तविक सतसंग, स्वाध्याय और अध्ययन है। आत्म-निरीक्षण के बिना कोई भी सद्गुरु से मिला प्रकाश अपने काम नहीं आता।

५१५—शरीर संसाररूपी सागर का एक बिन्दु मात्र है, अतः शरीररूपी बिन्दु को संसाररूपी सागर की सेवा में लगा देना ही शरीर का सर्वोत्तम सदुपयोग है।

५१६—कोई ऐसा दुःख है ही नहीं कि जिसका जन्म किसी न किसी प्रकार के सुख भोग से न हो।

५१७—सारा कार्य प्रकृति में हो रहा है। आतमा सदा निर्लेप है। सारे द्वन्द्व प्रकृति में हैं। ध्यान के समय यह भावना करना उचित है कि दुनिया में हमारा कोई दुश्मन नहीं, एक ही परमपिता परमात्मा की हम सब सन्तान हैं। उससे आया हूं फिर उसमें मिलूँगा, व्यवहार के लिए हमको उसके साथ ऐसा बोलना पड़ा, हे सर्वेश्वर परमात्मा मुझे क्षमा करो।

५१८—"मन को वश करने का उपाय।"

मन को समझना चाहिए नौकर और मैं मन का प्रभु हूं। हम अपने मन को नौकर समझ कर उपेक्षा करें तो थोड़े दिनों में मन वश में हो जाता है और भी मन के चंचल भावों को न देख कर अपने स्वरूप की ओर शान्त होकर बैठे तो थोड़े दिनों

के अन्दर ही मन नष्ट हो जाता है। इस रूप से साधक अपने आनन्द स्वरूप में मग्न हो सकता है। ऐसे ही ध्यान के समय अपना सारा मानसिक चिन्तन बाहर की समस्त सम्पत्ति ईश्वर चरणों में अर्पण करके शान्त होकर बैठ जाय तो इससे हानि होती ही नहीं। ईश्वर तब तक समस्त सम्पत्ति देह—प्राण और मन की रक्षा करेगा। ईश्वरार्पण बुद्धि से कभी हानि नहीं होती, अपितु देह, प्राण और मन में एक नवजीवनी शक्ति का संचार होता है जिससे तुम शान्ति और आनन्द से अपनी और विश्व की उन्नति करके सफल और सार्थक जीवन बिता सकते हो।

५१९—यह नियम है कि भयभीत प्राणी ही दूसरों को भय देता है। भयरहित हुए बिना अभिन्नता आ नहीं सकती। अभिन्नता के बिना वासनाओं का अन्त सम्भव नहीं है और निर्वासना के बिना निर्वैरिता, समता, मुदिता आदि दिव्यगुण उत्पन नहीं होते, जो बल दूसरों की निर्बलताओं को दूर नहीं कर सकता वह वास्तव में बल ही नहीं है।

५२०—जैसे बालक अपनी परछाईं विषे वैताल कल्पिकर भय को पाता है। तैसे यह जीवन अपने संकल्प करके आप ही भय पाता है। परमार्थ से कुछ द्वैष नहीं सब संकल्प रचना है।

५२१—जैसे स्वप्न विषय संकल्प करके दुःखी-सुखी होता है तैसे जाग्रत में भी संकल्प से ही सुखी-दुःखी होता है।

५२२—यद्यपि स्वप्न संसार और जाग्रत जगत दोनों ही संकल्प मात्र हैं तथापि स्वप्न संसार ज्ञान का सादि संकल्प अर्थात् पीछे का संकल्प है और जाग्रत ज्ञान अर्थात् ईश्वर का आदि संकल्प है।

५२३—ये पाँचों भूत जो इन्द्रियों से बाहर दिख रहे हैं ये सबके सब मन के अन्दर हैं। न कोइ सृष्टि है न स्रष्टा है सब

आत्मा है बाकी सब भ्रम मात्र है।

५२४—स्वप्न के समय अकेला स्वप्न देखने वाला होता है और यह स्पष्ट है कि स्वप्न की आकृतियां स्वप्नकाल में स्वप्न देखने वाले से ही निकलती हैं और जिस प्रकार आकृतियां द्रष्टा स्वरूप से निकलती है उसी तरह उन आकृतियों का अन्तर और विभाग भी साक्षी स्वरूप से निकलाते व आकृतियों से सम्मिलित होते हैं। इसी कारण ये आकृतियाँ पृथक्-पृथक् दिखाई देती हैं।

५२५—बुद्धि तो नानात्व को सत्य जानती है और वेद नानात्व को मिथ्या और नानात्वदर्शी को अद्वैत तत्व सिद्ध करता है।

५२६—सम्पूर्ण प्रपंच अज्ञान जन्य है यह ज्ञात होने पर लीन हो जाता है। जैसे स्वप्नावस्था में एक ही स्वप्न का देखने वाला अनेक रूपों को धारण करके किसी रूप से वद्ध और किसी रूप से मुक्त होता है। वास्तव में स्वप्न के देखने वाले में बंधन और मोक्ष असली नहीं है। तो भी अविद्या आवरण के दोष से वह अपने आप में वद्ध और मुक्त वर्ताव करता है।

५२७—मैं सुषुप्ति अवस्था में जिस प्रकार निर्विकार रहता हूं उसी प्रकार जाग्रत और स्वप्न में भी निर्विकार रहता हूं। स्वप्न और जाग्रदादि अवस्था विषयादि के स्पर्श से मैं विकृत नहीं होता। क्या जाग्रत संसार और क्या स्वप्न संसार मनोमात्र है। वास्तविक अथवा बाहर में स्थित नहीं है।

५२८—प्रसन्न चित्त उद्योगी कार्यकर्त्ता को प्रकृति हर प्रकार की सहायता का वचन देती है।

५२९—मेरे विषे दुःख कोई नहीं क्योंकि मैं आत्मा हूं। और मेरे विषे अहंकार भी नहीं तो ग्रहण त्याग किसका करूँ।

५३०—सुषुप्ति वह अवस्था है जिसमें वर्त्तमान काल का समस्त नानात्व का अभाव हो जाता है। और सच्ची एकता प्राप्त होती है।

५३१—भय दूसरे से होता है। मनुष्य को चाहे भगवत् दर्शन हो जाय परन्तु जब तक वह अपने आपसे उसे (भगवत् ज्ञान या ईश्वर परमात्मा को) भिन्न जानता है भयभीत रहता है। श्रुति का अभिप्राय यह है कि अपने आप से किसी को भय नहीं होता।

५३२—श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथ कोटिभि: ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापर:।

५३३—प्रत्येक समय प्रसन्न रहना परमात्मा का सबसे बड़ा स्मरण तथा उपासना है।

५३४—इन मूर्ख प्राणियों का अपना संकल्प ही इनको भय देता है और कोई नहीं। जब अज्ञान को छोड़कर विचार करता है कि मेरा ही संकल्प था और वही मुझको भ्रम में डाल रहा था। मेरे से भिन्न कुछ भी नहीं।

५३५—जहाँ तक दृष्टि जाती है मैं सबका बादशाह हूं। और मेरे स्वत्व पर कोई झगड़ने वाला नहीं।

सब शाहों का शाह मैं मेरा शाह न कोय।
सब देवों का देव मैं मेरा देव न कोय॥
डंडा कुल पर है मेरा, क्या सुलतान अमीर।
पत्ता मुझ बिन ना हिले, आंधी मेरी असीर॥

५३६—जब तक तुमको बाहर से चोर दिखाई देता है तुम्हारे भीतर चोर अवश्य होगा। जब तक और लोग ब्रह्म से भिन्न (अयोग्य, खराब, सुधारने योग्य दिखाई देते हैं) ऐ सुधार का बीड़ा उठाने वाले ! अपनी चिकित्सा कर।

५३७—जिस ओर मैं दृष्टि डालता हूं अपना ही मुख देखता हूं। और जिस किसी को देखता हूं अपना ही शरीर देखता हूं।

देश और काल से मैं समस्त व्यष्टि और समष्टि में भरपूर हूं और जिस ओर जाता हूं अपनी ही गली (निवास स्थान) पाता हूं।

५३८—जिसे संसार कहते हैं वह शीशे में केवल तेरे मुख मंडल की छाया है।

५३९—किसी प्रकार काल काटने मजदूर की तरह काम न करो। आनन्द के लिए उपयोगी कसरत समझकर, सुख क्रीड़ा अथवा मनोरञ्जक खेल समझकर कुलीन राजकुँवर की तरह काम करो। दबे हुए दिल से कदापि किसी काम को हाथ में न लो। अनुभव करो कि महाराजे और राष्ट्रपति तुम्हारे चाकर हैं।

५४०—भय ही एकमात्र भयंकर शत्रु है। इसलिए सब भयों को झाड़ फेंक दो।

५४१—पवित्र पुस्तकों और उपदेशों अर्थात् वेदों और शास्त्रों में ईश्वर नहीं पाया जा सकता। अपने शुद्ध हृदय रूपी वेद में देख क्योंकि इससे उत्तम पुस्तक कोई नहीं है।

५४२—वह ज्ञानी जो सारे संसार को अपने आप देखता है, प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वरूप समझता है। वह किससे अप्रसन्न हो? उसके लिये विक्षेप कहाँ?

५४३—संसार में जितनी वस्तुएं प्रत्यक्ष में घबराने वाली मालूम होती हैं वास्तव में तेरी प्रफुल्लता और आनन्द के लिए प्रकृति के हाथ ने तैयार की हैं। उल्टा डरने से क्या लाभ? तेरी ही मूर्खता तुझे चक्कर में डालती है नहीं तो तुझे कोई नीचा दिखाने वाला नहीं। यह पक्का निश्चय रख कि संसार तेरे किसी शत्रु का बनाया हुआ नहीं। वरन् तेरे ही आत्म देव का सारा विकास है। संसार का कोई भी पदार्थ तुझे वास्तव में दुःख नहीं दे सकता है।

५४४—यदि सब कुछ स्वप्न ही है तो फिर चिन्तायें कैसी?

५४५—जो हमने सोचा था वह स्वयं गलत था। वह बचाव का उपाय ही विनाश हो जाने का कारण बनता है। ठीक यही हाल घबड़ाने वाले मनुष्यों का होता है।

५४६—प्रयत्न का त्याग करना मंजिल का पल्ला प्राप्त करना है अर्थात् मित्र लाभ की इच्छा ही बेचैनी रखती है। जब यह इच्छा दूर होती है तभी साक्षात्कार की प्राप्ति है। तू उस प्रयत्न से अपने मार्ग को उल्टा दूर क्यों करता हैं। दूरदर्शिता मनुष्य को अंधा बना देती है।

५४७—जिसको आप भयानक घटनायें और भयंकर चोटें अनुमान किये बैठे हो, वह वास्तव में तो तुम्हारे प्रियतम आत्म-देव ही की करतूतें हैं सबकी सब डरावनी बातें और प्राणनाशक घटनायें रूप और आकार तो विष का रखती हैं मगर बनी हुई मिशरी की हैं।

५४८—स्वप्नावस्था में पुरुष वस्तुतः आप ही आप होता है किन्तु तमाशा यह है कि इधर तो अपने व्यष्टि रूप से अपने आपका एक फकीर या अमीर विद्यार्थी या मंत्री आदि देखता है, उधर अपने समष्टि रूप से सिंह, व्याघ्र, नदी, नगर उत्पन्न कर लेता है, जिनको उस समय अपने आपसे पृथक् समझता है। जागी हुई दृष्टि से देख तो स्वप्न में यह जिसको अपना स्वीकार करता है वह भी इसी का ख्याल है और जिनको अपने से पृथक् मानकर उनसे भय करता है, भयभीत हो जाता है वे भी इसी की सृष्टि है, आप ही भेड़ है और आप ही भेड़िया। ठीक यही दशा जाग्रत अवस्था में है।

५४९—जिससे तू डरता है वह तू ही है। जिससे भयभीत होता है वह तू ही है। अपने ही तेज और प्रताप से भयभीत मत हो। सब तेरे ही प्रकाश हैं। उनसे मत डर, निधड़क हो जा।

५५०—जो कुछ देखने सुनने में आता है केवल ख्याल ही ख्याल है।

५५१—जिस जगह मेरी आँख पड़े, उसको तू मेरे अतिरिक्त मत जान मैं वही हूं। मैं वही हूं। मैं वही हूं।

५५२—वेदान्त का यह अनुशासन है कि नीच, शत्रु, पाषाण, हृदय, पिशाच कोई है ही नहीं, मेरा पवित्र स्वरूप ही समस्त रूपों में प्रति समय शोभायमान है। अपने आपको कोई अनिष्ट नहीं करता, अतः मेरा अनिष्ट करने वाला कौन है? सब मेरे शरीर हैं, मेरे अपने आपसे अवश्य मुझको हानि का भय नहीं। बाहरी विरोध वास्तविक नहीं केवल देखने मात्र हैं।

५५३—मैं इस अनन्त सृष्टि का पिता, माता, पितामह और रक्षक हूं। ज्ञान और पवित्रता का परिणाम हूं या जानने योग्य और शुद्ध करने वाला जो ओ३म् है वह मैं हूं।

५५४—यह सब चर अचर रूपी द्वैत तभी तक है जब तक मन देखने वाला बना है, मन के शान्त हुए द्वैत की गंध शेष नहीं रहती।

५५५—यह पंचभूत तुम्हारे बनाये हुए हैं। झिझक और भय को दूर कर दो।

५५६—सुषुप्ति तुम्हारे मुश्कें कसकर, हाथ पांव बाँध कर यह पाठ नित्य पढ़ाती है कि देश, काल, वस्तु सत्य नहीं, सत्य नहीं केवल देखने मात्र है दिखावटी है मत डरो। (भय, शोक, चिन्ता सत्य नहीं, सत्य नहीं केवल देखने मात्र है मत डरो)।

५५७—यदि स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभव को भी जागकर कह देते हो कि यह झूठ है तो जाग्रत के अनुभव को भी झूठ कह देना आवश्यक है क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति के विश्वास से यह उड़ जाता है।

५५८—यदि तू उस साक्षी (भगवान) का प्रेमी है तो जो

कुछ उसके अतिरिक्त है उसकी ओर से आँख सी ले (बंद कर ले)।

५५९—जो कुछ भलाई और बुराई दृष्टिगोचर होती है वह सब ईश्वर का स्वरूप है।

५६०—जैसे एक धागे में उत्तम, मध्यम और कनिष्ट प्रकार के फूल गुथे हुए हैं, वैसे सब में समाने वाले (आत्मा) में उत्तम, मध्यम और कनिष्ट शरीर पिरोये हुए हैं। जैसे फूलों की उत्तमता, मध्यमता और कनिष्ठता तार पर कुछ प्रभाव नहीं डालती वैसे शरीरों का उत्तम, मध्यम और कनिष्टपन मुझ सर्वव्यापक आत्मा का तनिक भी विगाड़ नहीं कर सकता। जैसे उन समस्त फूलों के नष्ट हो जाने पर तार की कुछ हानि नहीं, वैसे ही शरीरों के नाश हो जाने से मुझ सर्वगत आत्मा को तनिक भी क्षति नहीं पहुंचती।

५६१—राम रहीम सब तेरे बन्दे (सेवक) हैं। तुझसे बड़ा कोई नहीं है। इसलिए तू अपने आपको ईश्वर निश्चय कर।

५६२—बादल, हवा, चन्द्रमा, सूर्य और आकाश सब तेरे काम के लिये हैं ताकि तू रोटी प्राप्त करे किन्तु उसको गफलत (प्रमाद) से न खाये। ये सब तेरे लिये चक्कर लगा रहे हैं और तेरे आज्ञाकारी (गुलाम) हैं।

५६३—उच्च स्वर से कहता हूं कि मैं खुदा हूं और तेजों का तेज स्वरूप आत्मा जो इस सूर्य और चन्द्र को प्रकाश दान करता है वह मैं हूं।

५६४—आप ही समस्त वस्तुओं को आनन्दमय बनाना और आप ही मूढ़ की तरह उनका पीछा करना।

५६५—जीविका की चिन्ता, प्रणयिनी सुन्दरियों का श्रवण-मनन एवं लोगों का दुःखमय स्मरण यदि तू अपने निज स्वरूप का ही प्रेमी होवे तो सब मिट जाय।

५६६—क्या फकीर, क्या अमीर, क्या छोटा, क्या बड़ा, क्या कैदी, क्या राजमन्त्री सब एक ही हैं।

५६७—संसार मुझसे पहले न था और यह मेरा ही बनाया हुआ है।

५६८—मैं ही स्वयं कहता हूं और मैं ही सुनता हूं, मेरे सिवाय तीनों लोकों में कोई नहीं है।

५६९—शागिर्द हैं तो हम हैं, उस्ताद हैं तो हम हैं, हमारे स्वरूप की एकता में कभी अन्तर नहीं आ सकता। सागर में लाखों तरंगें होने दो, सागर की एकता में अन्तर नहीं आ सकता।

५७०—बेगाना गर नजर पड़े, तू आशना को देख।
बंदा गर आये सामने, तो भी खुदा को देख ।।

अजनबी (पराया) का मित्र, सखा, अपना बनाना और बन्दे (जीव) का खुदा बन जाना भी अवश्य निश्चित हो जायगा।

५७१—न नक्शे दुई दिल से मिटादूँ तो सही।
मखलूक को खालिक न बनादूं तो सही ।।
कतरा न अनल बहर कहे तो कहना।
आविद से न माबूद बनादूँ तो सही ।।

५७२—हंसमुख रहना मोतियों का कोष दे देने से भी अच्छा है।

५७३—संसार बुरा कहता है तो संसार पागल है किन्तु मैं निष्कलंक हूं।

५७४—भयानक शत्रु के शरीर में मैं ही स्थित हूं, मैं ही शत्रु दृष्टिगोचर होता हूं, मैं ही शत्रु हूं, मैं ही शत्रु हूं। शत्रु उड़ गये। ज्ञान के गोले ने शत्रु उड़ा दिया। मैं ही मैं हूं, एकमेवा-द्वितियम हूं।

५७५—जिस वस्तु का हमारी इन्द्रियों का ज्ञान है उसके त्याग से मन का नाश होता है।

५७६—सिंह की गर्जन, नरसिंह की ललकार, तलवार के जौहर, सर्प की फुफकार, तपस्वी की धमकी और न्यायाधीश की फटकार सब तेरे ही प्रकाश हैं। तू उनसे भयभीत क्यों होता है ? असमंजस में क्यों पड़ता है ? "घर को बिल्ली घर को म्याऊं" वाला हिसाब बनाने को आज्ञा क्यों दे रहा है ?

५७७—प्यारे ! जरा अपने आपे में आकर देखो। भय कैसा ? बला का क्या काम ? विपत्ति का क्या काम ? शोक और क्रोध, दु:ख और पीड़ा का क्या प्रयोजन ? आत्मानन्द वाले को भय और आशंका कैसी ?

५७८—मेरे प्यारे ! अपनी खोई हुई आत्मा को एक बेर पा लो, धरती और आकाश में शासक तुम्हीं हो।

५७९—जब तक अविद्या दूर न होगी, तब तक चोरी-जारी, जुआ, मद्यपान आदि कभी बन्द न होंगे। लाख यत्न भले करो।

न मारा आपको जो खाक हो अकसीर बन जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीरगर मारा तो क्या मारा॥

५८०— यार को हमने जा बजा देखा।
कहीं बन्दा कहीं खुदा देखा॥
सूरते गुल में खिलखिला के हंसा।
शक्ले बुलबुल में चहचहा देखा॥
कहीं है बादशाह तख़्तोनशीं।
कहीं कासा लिये गदा देखा॥
कहीं आबिद बना कहीं जाहिद।
कहीं रिन्दों का पेशवा देखा॥
करके दावा कहीं अनहलक का।
बरसरे-दार वह खिचा देखा॥

देखता आप है सुने है आप।
न कोई उसके मासिवा देखा ।।
बल्कि यह बोलना भी तकल्लुफ है।
हमने उसको सुना या देखा ।।

५८१—इस ज्ञान के कठिन मार्ग पर चलते समय तुझे जब भारी कष्ट और दुःख सामने आवें तो उनमें तू सुख समझ क्योंकि वे इस मार्ग में नित्यानन्द दिलाने वाले होते हैं और इन चोटों और दुःखों से किसी प्रकार साहसहीन मत हो वरन् आगे बढ़ता चल और जब तक तू अपने सत्य स्वरूप को भलीभांति न जान ले, कदापि न ठहर।

५८२—भलाई-बुराई दोनों को छोड़ दे और अन्त को अपने स्वरूप की ओर ऐ सत्यस्वरूप तू आ।

५८३—किसी भी भय को अपने पास मत फटकने दो। समस्त भय और चिन्तायें इच्छाओं का परिणाम हैं।

५८४—तुम स्वयं ही अपने सामने भूतों, प्रेतों, शत्रुओं, मित्रों, पड़ोसियों, झीलों, नदियों और पहाड़ों के रूप में प्रकट होते हो। वास्तव में तुम्हीं आत्मा हो। तुम्हीं नाम रूपात्मक अनात्मा भी हो। हर एक चीज तुम हो, भूत, प्रेत, देवता और देवदूत, पापी और महात्मा सब तुम्हीं हो।

५८५—स्वप्नावस्था में तुम एक भेड़िया देखते हो और डरते हो कि भेड़िया तुम्हें खा जायगा। तुम डर जाते हो, किन्तु जिसे तुम देखते हो वह भेड़िया नहीं है, वह तुम खुद ही हो। अतः जाग्रतावस्था में भी मित्र अथवा शत्रु तुम्हीं हो। तुम्हारा घोर से घोर शत्रु है वह तुम हो, दूसरा कोई नहीं। पृथकता, भिन्नता के इस विचार को अपने हृदय से दूर कर दो। मित्र या शत्रु का रूप तुम्हारा कोरा स्वप्न है।

५८६—भय से अपने मस्तिष्क को क्यों पस्त करते हो और प्रार्थनाओं में क्यों अपनी शक्तियों को खपाते हो, दिलेरी से निकल पड़ो। निर्भय होकर उच्च स्वर से पुकारो "अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि।"

५८७—सारा संसार तुम्हारे अन्दर है। बाहर कुछ नहीं है।

५८८—सड़क पर जाते हुए जब किसी मनुष्य को तुम देखो जो प्रतिष्ठित हो चाहे इंगलैंड का सम्राट् हो, चाहे रूस का जार, चाहे यूनाइटेड स्टेट्स का प्रेसिडेंट हो तो किसी तरह की ईर्ष्या या भय का विचार अपने मन में न आने दो। उसकी शहाना नजर को अपनी ही दृष्टि समझ कर मजे लूटो—मैं वही हूं अन्य कोई नहीं। जब तुम ऐसा अनुभव करने की चेष्टा करोगे, तब तुम्हारा अपना अनुभव यह सच्चा सिद्ध कर देगा कि सब एक है।

५८९—स्थावर और जंगम जगत सब मेरे मुख में है। सब दृश्य नाम और रूपमय है।

५९०—चाहे पृथ्वी अपना गुण (गंध) छोड़ दे, जल अपना गुण (रस) छोड़ दे, तेज अपना गुण (प्रकाश) छोड़ दे, वायु अपना गुण (स्पर्श) छोड़ दे, अग्नि अपनी उष्णता छोड़ दे, आकाश अपने धर्म (शब्द) को छोड़ दे। चन्द्र अपनी शीतलता को छोड़ दे, धर्मराज (यमराज) धर्म (न्याय) को छोड़ दे, किन्तु मैं सत्यता को कदापि नहीं छोड़ूँगा। जो एक बार मेरी समझ में आजाय कि यह सत्य है उस पर अवश्य चलूंगा। चाहे सारी सृष्टि विरुद्ध हो जाय। परवाह नहीं।

५९१—वह ज्ञानी जो संसार को अपने आप देखता है, प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वरूप समझता है। वह किससे अप्रसन्न हो? उसके लिए विक्षेप कहाँ?

५६२—यदि हमारा मन ईर्ष्या-द्वेष से बिलकुल रहित और शुद्ध हो, तो संसार की कोई वस्तु हमें हानि नहीं पहुंचा सकती। शान्ति और आनन्द से भरे हुए सच्चे महात्माओं के निकट क्रोध-मूर्ति मनुष्य भी पानी-पानी हो जाते हैं। जंगल के भेड़िये, सिंह आदि उन्हें देख प्रेम विह्वल हो जाते हैं। साँप, बिच्छू, आदि अपने दुष्ट स्वभाव को भूल जाते हैं।

५६३—वास्तविक दृष्टि से व्यक्तित्व (जीव) तेरी माया का व्यष्टि रूप है और सारा संसार तेरी ही माया का समष्टिरूप है। जब यही मामला है तो जिनसे सामना पड़े वे तेरे ही स्वरूप हैं, तेरा ही प्रकाश है।

५६४—सब शरीर मेरे हैं, मेरे अपने आपसे अवश्य मुझको हानि का भय नहीं बाहरी विरोध वास्तविक नहीं, केवल देखने मात्र है। इसी प्रकार मनुष्यों के पारस्परिक भेद भी केवल दिखाई ही देते हैं वस्तुतः हैं ही नहीं।

५६५—जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, यह तुम्हारा ख्याल है सहित उसके भूत और भविष्य के।

६६६—स्वप्नावस्था की वस्तुयें उसी समय उत्पन्न होकर दृष्टिगोचर होने लगती हैं, पर स्वप्न देखने वाले को ऐसा भान होता है कि मेरी उत्पत्ति से वे पहले की हैं, यद्यपि वे उसी समय उत्पन्न होती हैं, पर भ्रान्ति से ऐसा समझा जाता है कि पहले पैदा हुई थीं। ठीक इसी प्रकार जाग्रत अवस्था के समान और उनका ज्ञान भी दोनों एक ही समय उत्पन्न होते हैं, किन्तु अविद्या के जोर से उन वस्तुओं के सम्बन्ध में यह ख्याल भी साथ ही होता है कि इन वस्तुओं को थिरता है अर्थात् यह ख्याल कि ये वस्तुयें वे ही हैं जो पहले थीं।

५६७—ऐ ब्रह्मज्ञान के उत्तराधिकारियो! तुम अपने ही भ्रम की कौल से मत जकड़े जाओ। तुम्हें कोई खींचने वाला

नहीं। ये पंचभूत तुम्हारे बनाये हुए हैं। झिझक और भय को दूर करदो। तुम्हारे खूंटी गाड़ते-गाड़ते भूत प्रत्यक्ष होता गया। पहले कोई भूत न था।

५९८—जैसे स्वप्न में इस 'मैं' के भीतर इधर एक व्यक्ति भिक्षुक या सम्राट बन जाता है (व्यष्टि) उधर देश, मैदान, पर्वत, और नदी उपस्थित हो जाती हैं (समष्टि) वैसे ही जाग्रत में इस एक 'मैं' के भीतर इधर एक व्यक्तिपन प्रकट हो जाता है, उधर सारा संसार प्रकट हो जाता है। इधर देश काल, वस्तु एक व्यक्तिमात्र के भीतर (मस्तिष्क में) उग पड़ते हैं, उधर संसार भर में मौजूद हो जाते हैं।

५९९—स्वप्न में यदि आप सिंह से दब जाते हो तो क्या सिंह आपका स्वप्न विचार नहीं था? इधर आधीन (दबा हुआ) शरीर आपका ख्याल था, उधर आक्रमणकारी सिंह आपका स्वप्न था। वस्तुतः आपके अपने आप में सब कौतुक कल्पित है। जागो, अपने आप में तुम्हीं सर्वशक्तिमान शुद्ध चेतन देश काल के कर्त्ता-हर्त्ता हो।

६००—यह एक छोटा शरीर है इसको तू कहता है 'मेरा है'। यदि इसके अंगों और नाड़ी-नसों का पूरा-पूरा तत्वज्ञान हो, तो भी तेरा है। चाहे पूरा ज्ञान न भी प्राप्त हो तो भी तेरा है। इसमें तुझे कुछ संशय नहीं। वैसे ही समस्त संसार चाहे तुझे एक गांव की भी पूरी जानकारी न हो जिस पर भी तेरा है। तेरे राजराजेश्वर होने में कुछ भी संशय नहीं।

६०१—मैं विशुद्ध हूं, विमुक्त हूं, पूर्ण आकाश से भी बढ़कर पूर्णतम, सर्वव्यापक हूं। असंख्य ब्रह्माण्ड मुझ में पड़े हैं, मैं असंस्पर्श्य हूं, मेरा स्वरूप निर्लिप्त है।

६०२—मुझे दुःख से कोई भय नहीं है। मुझे समय की जरा भी चिन्ता नहीं। आत्मानन्द वाले को और आशंका कैसी?

६०३—संसार भरके विज्ञान, तत्वज्ञान, काव्य और गणित तेरे आत्मा से निकले हैं और निकलते रहेंगे ।

६०४—ऐ खुदा के ढूंढ़ने वालो ! तुमने अपनी खोज से खुदा को लुप्त कर दिया है और उन (प्रयत्न रूपी) लहरों में तुमने उस समुद्र (अनन्त सामर्थ्य को) छुपा दिया है ।

६०५—जिसको मैं बुरा समझता हूं वह भला ही है तो क्रोध किस बात का ? ऊँ, ऊँ, ऊँ ।

६०६—नीचे-ऊपर जिस जगह मैं देखता हूं, दोनों संसार (लोक परलोक) के भीतर मैं केवल अद्वैत तत्व के और कुछ नहीं देखता हूं । यदि मैं ही मैं हूं तो क्रोध किस पर 'रुष्टता कैसी ?'

६०७—सब द्वन्द्व भावों को त्याग दिया यथा जन्म-मरण, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख सबको त्याग दिया ।

६०८—जैसे स्वप्न विषे जन्म-मरण, आना-जाना देखता है परन्तु मिथ्या है तैसे जाग्रत क्रिया भी सर्व मिथ्या है ।

६०९—सिर पर आकाश फट पड़े या विजली गिर पड़े तो भी भयभीत मत हो ।

६१०—दुखों से डरना रस्सी को सांप समझकर डरने के बरावर है ।

६११—परमात्मा की शान्ति भंग करने की भला किस में सामर्थ्य है ? यदि आप सचमुच परमेश्वर हैं तो सारा संसार भी उल्टा होकर टंग जाय, आपकी शांति कभी भंग नहीं हो सकती ।

६१२—ऐ प्यारे ! जिसे आप जाग्रत समझ रहे हो वह तो घोर स्वप्न अर्थात् सुषुप्ति है ।

६१३—यदि स्वप्न में चित्ताकर्षक घटनायें उपस्थित हैं तो तेरे विचार हैं । यदि भयानक रूप विद्यमान है तो तेरी करतूत

है। वैसे ही संसार में चाहे मन भावती घटनायें हों, चाहे विपत्तियां और आफत हो सब तेरी ही बनाई हुई हैं।

६१४—जैसे स्वप्न विषे द्वैत कलना होती है सो असत है तैसे यह जाग्रत द्वैत भी असत् है।

६१५—जैसे स्वप्न विषे अपने आप ही द्वैत रूप हो भासता है और राग-द्वेष उपजता है, जब जागता है तब सब आत्मरूप हो जाता है।

६१६—वेदान्ती दुनिया में हर एक वस्तु को अपनी ही रचना के समान भोगता है।

६१७—धर्मात्मा वही है जो हृदय को हिला देने वाले अवसरों पर चित्त को वश में रखे शोक और क्रोध को प्रवेश न पाने दे।

६१८—बिगड़े तब जब होय कुछ बिगड़न वाली शय।
अकाल अछेद्य अभंग को कौन शकस का भय ।।
कौन शकस का भय बुद्धि यह जिसने पाई।
तिसके ढिग दिलगीरी, नहीं कदाचित् आई ।।

६१९—काटने मारने वाला भी अपना ही अंग है। भय मात्र हमारी कल्पना की उपज है।

६२०—जैसे स्वप्न विषे चेष्टा होती है सो पास बैठे को नहीं भासती ताते है नहीं। जो कुछ द्वैत भासता है सो भ्रम मात्र है। जो कुछ हुआ होता तो ज्ञानी को भी प्रत्यक्ष होता सो ज्ञान काल विषे नहीं भासता ताते भ्रम मात्र है।

६२१—जैसे स्वप्न विषे द्रष्टा ही दृश्य रूप होता है तैसे जाग्रत दृश्यरूप होकर आत्मा ही स्थित है।

६२२—समस्त शरीर मैं स्वयं हूं या सब मेरा अपना आप है तो फिर मैं क्यों न अपनी ही भाँति सबसे प्रीति करूं ? सब शरीर मेरे हैं केवल एक शरीर को अपना मानना झूठ बोलना है।

६२३—मैं स्वयं ही कहता हूं और मैं ही सुनता हूं, मेरे सिवाय तीनों लोकों में कोई नहीं है।

६२४—जैसे स्वप्न विषे जगत भासता है सो सब आकाश रूप होता है, परन्तु निद्रा दोष करके पिण्डाकार भासता है मैं तुम शब्द कोई नहीं।

६२५—अविश्वास और धोखे से भरा हुआ संसार वास्तविक सदाचारी सत्यनिष्ठ साधक का कुछ भी बुरा नहीं कर सकता।

६२६—सच्चा वैराग्य तो संसार के इस दीखने वाले स्वरूप का सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्मा का नित्यभाव प्रतीत होने में है।

६२७—सुषुप्ति अवस्था में भी जगत से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है। जागे तो जगत नहीं तो कुछ भी नहीं।

६२८—सब जगत परमात्मा में है। परमात्मा मुझ में है तो महात्मा बड़ा हुआ परमात्मा से।

६२९—जो वृत्ति आत्मस्वरूप में लय होती है, उसे सत्संग, स्वाध्याय या अन्य किसी भी काम के लिये बाहर नहीं निकालनी चाहिए।

६३०—अज्ञानियों को जो वस्तु जगतरूप दीखती है वही ज्ञानी को ब्रह्मरूप दिखाई देती है।

६३१—जिधर देखता हूं, जहां-जहां देखता हूं मैं अपनी ही ताव और शाँ देखता हूं।

६३२—जो सत्य मार्ग पर विचरण करता है उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता।

६३३—जो आने वाले कल की चिन्ता किये बिना प्रभु में रत रहता है वही सच्चा सहनशील है।

६३४—जबकि मनुष्य देवदार, चीड़ आदि के कानन में अपने आपको उनसे अलग समझता हुआ निर्द्वन्द्व विचरता है

उसी प्रकार जब वह व्यक्ति शहरों की हलचल में निर्द्वन्द्व घूमता है। जो अपने आप शरीर के साथ तादात्म्य न होता हुआ अपने शरीर को उस जंगल का केवल एक पेड़ समझ लेता है उसके लिये सारी सृष्टि आनन्द का उद्यान बन जाती है।

६३५—सोने से पहले जब आंख बन्द होने लगे, दोपहर हो या रत्रि, तब अपने मन में ऐसा निश्चय करो कि तुम अपने जागने पर वेदान्त के सत्य की साक्षात मूर्ति के रूप में प्रकट होंगे। जब तुम जागो तब अन्य कोई काम करने के पहले अपने अन्तःकरण में पुनः उस संकल्प का चित्र खींचो जो सोने के पहले किया था। जब भी सम्भव हो मन ही मन या जोर से ओ३म्! ओ३म्! गाओ और गुनगुनाओ।

६३६—अशुभ का विरोध न करो। सदा शान्त रहो और जो कुछ सामने आवे प्रसन्नता से उसका स्वागत करो। फिर वह चाहे तुम्हारी इच्छा की धारा के विपरीत ही क्यों न जाये। फिर तुम देखोगे कि प्रत्यक्ष बुराई भलाई में बदल जाती है।

६३७—अपने आपको सदैव पूर्ण शान्त और आनन्द मग्न रखो। चाहे जैसी घटना हो उसमें व्याघात नहीं होना चाहिये—भूख-प्यास, रोग-दुःख, अपमान, लज्जा और मृत्यु। सदैव प्रसन्न चित्त और शान्त रहो, क्योंकि तुम तो परमात्मा हो, परम तत्व हो।

६३८—यदि तुम अपनी वास्तविक आत्मा के राजसिंहासन पर बैठने के लिये तत्पर हो जाओ तो संसार, उसके निवासी, उसके सम्बन्ध सभी कुछ न जाने कहां लोप हो जायेंगे।

६३९—पृथ्वी पर के सभी पदार्थों से एकदम राग तोड़ दो, याने पृथ्वी से ही राग हटा दो। (सम्पूर्ण पृथ्वी से ही राग हटा दो।)

६४०—जो अपने प्राणों की रक्षा करेगा वह उनसे हाथ धो बैठेगा। जो प्राणों को उत्सर्ग करेगा वह अमर हो जायगा।

६४१—जब तक मनुष्य चिन्ताओं और आमोद की भावनाओं से उद्विग्न रहता है, इच्छाओं और कामनाओं का भूत उसे चैन नहीं लेने देता तब तक बुद्धि का चमत्कार प्रकट नहीं होता, वह सांकल से जकड़ी हुई हिलडुल नहीं सकती। चिन्ताओं और कामनाओं के शान्त होने पर ही उस स्वतन्त्र वायुमण्डल का जन्म होता है जिसमें बुद्धि को खिलने का अवसर मिलता है। पंच भौतिक बन्धन कट जाते हैं और शुद्ध आत्मा अपने प्रकाश में चमकने लगता है।

६४२—ओ दण्ड के भीति से डरने वाले अभियुक्त! यदि तू उस समय भी जब न्यायाधीश अपने आसन से तुझे दण्डित करने वाला है, केवल एक क्षण के लिये उस परमानन्द में डूब जाय तो न्यायाधीश अपना निर्णय भूले बिना नहीं रह सकता, फिर लिखेगा वही जो परमात्मा के साथ तेरी नूतन स्थिति के अनुकूल होगा।

६४३—दुःखी मनुष्य को चुपचाप अपना दुःख भोग लेना चाहिए। बाहर धुआँ उड़ाने से क्या लाभ? भीतर ही भीतर जब तक धुआँ प्रकाश में परिणत न हो जाय तब तक किसी से कुछ कहना सुनना व्यर्थ है, और धुएं के बाद अग्नि अवश्य जल उठेगी यह प्रकृति का निगम है।

६४४—सुदृढ़ अचल संकल्प शक्ति के आगे बाधायें ऐसे भागती हैं जैसे आँधी के आगे बादल।

६४५—भय को हृदय में स्थान मत दो। भूतकाल के पीछे मत उदास हो, भविष्य की चिन्ता मत करो। वर्तमान में, प्रत्यक्ष वर्तमान में, काम करो। इस प्रकार की भावना तुम्हें हर परिस्थिति में प्रसन्न रखेगी।

६४६—मेरे पहले था ही नहीं कहीं जगत। वह सब मेरी सृष्टि है।

६४७—तुम सदैव भीतर का ध्यान रखो। पहले हम भीतर गिरते हैं और फिर बाहर। बाह्य पतन तो केवल परिणाम है।

६४८—बुराई का प्रतिरोध न करो। दाता के उत्साह के साथ सभी धटनाओं का स्वागत करो। महान आत्मायें कभी कदापि अस्थिर चित्त नहीं होतीं।

६४९—यह सदा ध्यान रहे कि हर समय सदा शान्त, स्थिर और आत्मनिष्ठ रहना तुम्हारा सर्वप्रथम कर्तव्य है। ऊपर से जो बातें तुम्हें बाधा और विलम्ब डालने वाली प्रतीत होती हैं वे वास्तव में तुम्हारी आन्तरिक शक्ति और पवित्रता को बढ़ाने वाली हैं।

६५०—स्वर्ग का साम्राज्य केवल हमारे अन्तस्तल में है। पुस्तकों में, मन्दिरों में, पीर पैगम्बरों और महात्माओं में आनन्द की खोज करना व्यर्थ है, बिलकुल व्यर्थ है।

६५१—शुद्ध आत्मा को, जिसने सम्पत्ति का भाव और इच्छा की लालसा हृदय से दूर कर दी है, ऐसी शुद्ध आत्मा को भय संकट अथवा कठिनाई की आशंका कैसे हो सकती है।

६५२—हमारे वक्षस्थल में 'मैं' का घुन लगा हुआ है। उसे परे फेंक दो और सारा संसार तुम्हारे सामने नतमस्तक होगा।

६५३–शक्ले इंसाँ में खुदा था मुझे मालूम न था।
हक से नाहक मैं ज़ुदा था, मुझे मालूम न था।।

६५४–कह रहा है आसमाँ यह समाँ कुछ भी नहीं।
रोतो है शबनम कि नैरंगे जहां कुछ भी नहीं।।१।।
जिनके महलों में हजारों रंग के फानूस थे।
झाड़ उनकी कब्र है और निशाँ कुछ भी नहीं।।२।।

जिनकी नौवत की सदा से गूँजते थे आसमाँ।
दम बखुद है कब्र में अब हूं न हाँ कुछ भी नहीं ॥३॥
तख्त वालों का पता देते हैं तख्ते गौर के।
खोज मिलता तक नहीं वादे अजाँ कुछ भी नहीं ॥४॥

६५५—रन बन आपत्ति विपत्ति में वृथा डरे जन कोय।
जो रक्षक जननी जठर, सो हरि गये न सोय ॥

६५६—जो कुछ तुम देखते हो वह तुम्हीं हो कोई शक्ति इसे रोक नहीं सकती।

६५७—संसार उसकी सहकारिता करने को वाध्य है जो सम्पूर्ण संसार से अपनी एकता अनुभव करता है। सबसे एकता प्रत्यक्ष अनुभव से हमें निश्चल निश्चिन्तता का जीवन प्राप्त होता है।

६५८—यदि थोड़ा बहुत अनुभव प्राप्त कर चुके हो तो अपने ही दिल से पूछो ऐसा है कि नहीं ? शुद्धि और सच्चाई, विश्वास और भलाई, इस्लाम और अकबर-दिली से भरा हुआ मनुष्य उन्नति का झण्डा हाथ में लिये जब कदम बढ़ाता है तो किसकी जमाल है कि आगे से हिल न जाय ? अगर तुम्हारे दिल में विश्वास और सचाई भरी है तो तुम्हारी दृष्टि लोहे के सिन्तुन चीर सकती है, तुम्हारे ख्याल के ठोकर से पहाड़ों के पहाड़ चकनाचूर हो सकते हैं। आगे से हट जाओ दुनिया के बादशाहो ! यह शाहे दिल तशरीफ ला रहा है। जितनी पवित्रता और विश्वास हृदय में अधिक गहरा होगा उतने ही हमारे काम अधिक प्रकाश में आवेंगे।

६५९—जब तुम संसार के प्रलोभनों और धमकियों से नहीं हिलते तो तुम संसार को अवश्य हिला दोगे। इसमें जो सन्देह करता है वह काफिर है।

६६०—वेदान्त में कार्य का अर्थ है सदैव विश्व से समतल रहना तथा वास्तविक आत्मा से एक स्वर होकर स्फुरण करना। वास्तविक स्वरूप से ऐसी निष्काम एकता, जो वेदान्त के अनुसार असली कार्य है, मूर्खों द्वारा प्रायः अकार्य या आलस्य की उपाधि पाता है।

६६१—पूर्ण स्वास्थ्य और प्रबल उद्योग का रहस्य इसी बात में है कि आप अपने चित्त को प्रफुल्लित और प्रसन्न रखें, सदा परेशानी और जल्दबाजी से परे और सदैव किसी भी प्रकार के भय या चिन्ता से मुक्त रखें। प्रसन्न रहना ही जीवन का प्रमुख उद्देश्य है।

६६२—तू आप मालिक खुद खुदा क्यों भटकता दिन रैन वे।

६६३—जैसे बंध्या स्त्री स्वप्न विषे अपने पुत्र को देखती है सो अनहोता भ्रम उसको भासता है। तैसे अज्ञानी को अनहोता जगत सत्य होकर भासता है।

६६४—जैसे समुद्र तरंग रूप हो भासता है। तैसे चेतन जगत रूप हो भासता है जैसे स्वप्न विषे शुद्ध संवित् पहाड़, नदियां रूप हो भासती हैं तैसे चिन्मात्र सत्ता जगतरूप हो भासती है।

६६५—मैं ब्रह्म हूं। सारा ब्रह्माण्ड मेरा अपना ही अंग है।

६६६—स्वप्न में दीखे जीवतन्तु, वृक्ष, पत्थर प्रभृति की सत्ता कल्पना से भिन्न कुछ नहीं है। ये सब पदार्थ मनोमय हैं। इनका मन ही में उदय, स्थिति और लय होता है और जब तक स्वप्नावस्था विद्यमान रहती है, उस समय तक ये सब पदार्थ जड़ वस्तु ही के रूप में प्रतीयमान होते हैं। स्वप्न कल्पित वस्तु या व्यक्ति के संग सम्बन्ध योग से दुःख, प्रेम, भक्ति, काम क्रोधादि भावों की क्रिया भी होती है। स्वप्न में दीखे जीवगण इन सब भावों को ग्रहण करते हैं, ऐसा अनुभव होता है। स्वप्न

दृष्ट व्याघ्रादि का स्रष्टा मन उपादान मन स्वकल्पित व्याघ्र के देखने से मन ही भीत होता है। सृष्टि, स्थिति, लय, कर्त्ता, क्रिया, कर्म सब कुछ ही मनोमय है। अथवा मन वास्तविक व्याघ्ररूप धारण नहीं करता ये जगत के सब विषय भी तद्रुप ब्रह्ममय हैं अथवा ब्रह्म जगद्रुप धारण नहीं करता।

६६७—यह जगत मिथ्या है। मेरा शरीर भी मिथ्या है। इसके सुख निमित्त यत्न करना व्यर्थ है।

६६८—सब प्रकार का दुःख, कष्ट, शोक, चिन्ता भ्रम मात्र हैं। जब दुःखकर विषय सामने आवे तव झट उसे भ्रम मात्र जानकर टाल दे।

६६९—जो कुछ तू देखता है वही तू है।

६७०—मैं ही यह परिवर्तनशील जगत हूं और मैं ही अपरिणामी निर्गुण ब्रह्म हूं। नित्यपूर्ण नित्यानन्दमय हूं।

६७१—तुम्हारे भीतर अशुभ न रहने पर अशुभ किस तरह देखोगे? तुम्हारे भीतर ही यदि चोर नहीं है तो तुम किस प्रकार चोर को देखोगे?

६७२—तमाम विश्व मेरे उदर में है बाहर में कुछ नहीं है।

६७३—समुद्र की तरंगों की ओर देखो एक भी तरंग समुद्र से पृथक् नहीं है। तब फिर तरंग पृथक् क्यों प्रतीत होती है। नाम रूप से तरंग की आकृति और हमने जो तरंग नाम इसे दे दिया है उसी ने उस समुद्र से पृथक् कर दिया हैं। नाम रूप के नष्ट हो जाने पर वह समुद्र था वही रह जाता है। समुद्र और तरंग के बीच कौन प्रभेद कर सकता है। अतएव यह समुदाय जगत एक रूप हुआ। जितना भी पार्थक्य है नाम रूप के कारण वास्तव में 'मैं' अथवा 'तुम' नाम का कुछ नहीं है। सब एक है चाहे कहो सभी मैं हूं या सभी तुम हो किन्तु द्वैत ज्ञान बिल्कुल मिथ्या है।

६७४—यदि संसार के नर-नारियों के लाखवें भाग का एक भाग भी बिल्कुल चुप रहकर एक क्षण के लिए भी कहे "तुम सभी ईश्वर हो ! हे मानवगण ! हे पशुओं ! हे सभी प्रकार के जीवित प्राणियों ! तुम सभी एक जीवन्त ईश्वर के प्रकाश हो" तो आधे घंटे के अन्दर ही समस्त जगत का परिवर्तन हो जायगा। उस समय चारों ओर घृणा का वीज न फैलाकर, ईर्ष्या और असत चिन्ता का प्रवाह न फैलाकर सभी देशों के लोग सोचेंगे कि सभी 'वह' है जो कुछ तुम देख रहे हो या अनुभव कर रहे हो वह सब वही है।

६७५—अतएव वेदान्त का सिद्धान्त है कि हम बद्ध नहीं हैं अपितु नित्यमुक्त हैं। इतना ही नहीं बल्कि यह सोचना भी कि हम बद्ध हैं अनिष्टकर है, भ्रम है। जहाँ तुमने कहा कि बद्ध हूं, दुर्बल हूं, असहाय हूं; वहां तुम्हारा दुर्भाग्य आरम्भ हो गया, तुमने अपने पैरों में और एक श्रृंखला डाल ली। इसलिए ऐसी वात कभी न कहना और न इस प्रकार कभी सोचना ही।

६७६—मैं राजाओं का भी राजा हूं मुझ से बढ़कर बड़ा राजा कोई नहीं है। मैं देवताओं का भी देवता हूं मुझ से बढ़कर कोई देवता नहीं है।

६७७—तुम सभी ईश्वर हो, ईश्वर को न देखकर मनुष्य को देखते हो ? अतएव यदि तुम में साहस हो तो इसी विश्वास पर खड़े होकर उसी के अनुसार जीवन को बनाओ। यदि कोई व्यक्ति तुम्हारा गला काटे तो उसको मना मत करना क्योंकि तुम तो स्वयं ही अपना गला काट रहे हो।

६७८—वेदान्त तुम्हें बताता है कि यह संसार शीश महल के समान है और ये सब शरीर विभिन्न दर्पणों के तुल्य है और तुम्हारी सच्ची आत्मा या निज स्वरूप का सब ओर ठीक वैसे ही प्रतिबिम्ब पड़ता है जैसे कि कुत्ता अपना प्रतिबिम्ब चारों

ओर दिवारों में देखता है। इसी तरह एक अनन्त आत्मा, एक अनन्त ईश, एक अनन्त शक्ति विभिन्न दर्पणों से अपना प्रतिविम्ब डालती है। एक अनन्त राम ही इन सब शरीरों द्वारा प्रतिबिम्बित हो रहा है। मूर्ख लोग कुत्तों की तरह इस संसार में आते और कहते हैं "वह मनुष्य मुझे खा लेगा अमुक आदमी मेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा, मुझे मिटा देगा" इस ईर्ष्या और भय का क्या कारण है ? कुत्ते की अज्ञानता अथवा कुत्ते की सी अज्ञानता इस संसार के यावत द्वेष और भय का कारण है। कृपया इस संसार में शीश महल के मालिक की तरह आइये और आप शीश महल के मालिक होंगे। आप सम्पूर्ण संसार के स्वामी होंगे। आप जब अपने प्रतिद्वन्द्वियों, भाइयों और शत्रुओं को आगे बढ़ते देखेंगे, आपको हर्ष होगा। कहीं भी किसी प्रकार का गौरव देखकर आपको प्रसन्नता होगी। आप इस संसार को स्वर्ग बना देंगे।

६७९—यदि सैकड़ों सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़ें, सैकड़ों चन्द्र चूर हो जायं, एक के बाद एक ब्रह्मांड विनष्ट होता चला जाय तो भी तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है। शिला की भांति अटल रहो। तुम अविनाशी हो फिर भय कैसा ?

६८०—अनुभव करो कि वास्तविक आत्मा सारी चिन्ता, सारे भय से परे है, सब मुसीबतों और दुःखों से दूर है। कोई आपको हानि नहीं पहुंचा सकता, कोई आपको चोट नहीं पहुंचा सकता।

६८१—जो सम्मुख आये, उसे भगद्रुप मानों और उसके अनुरूप उसकी सेवा करो। संसार की चिन्ता में पड़ना तुम्हारा काम नहीं है।

६८२—मृत्यु दो बार नहीं आती और जब आने को होती है उससे पहले भी नहीं आती।

६८३—जब आप स्त्री में स्त्री न देखकर उसे अपने इष्टदेव, अपने प्रियतम प्यारे ईश्वर को देखते हैं तब निस्सन्देह आप स्वयं ईश्वर रूप हो जाते हैं।

६८४—चाहे तुम बड़े हो या छोटे, चाहे उच्च श्रेणी के हो या निम्न, इसकी रत्तीभर परवाह मत करो। अपने पावों पर डटकर खड़े हो। बड़े-बड़े राजे और राष्ट्रपति तुम्हारे चाकर हैं।

६८५—महात्मा वह है जिसकी विशाल सहानुभूति और मातृवत हृदय सबको—पापियों और दीन-दुखियों को भी—प्रेम से अपने अंक में स्थान देता है।

६८६—असल में डरने की बात ही नहीं। चारों ओर, आगे और पीछे, भूत में और भविष्य में सारे देश में एक ही परमात्मा विद्यमान है और वह मेरा ही अपना आप है फिर मुझे डर किससे हो ?

६८७—हटो, ऐ संकल्पों और इच्छाओं हटो। तुम संसार की क्षणभंगुर प्रशंसा और धन से सम्बन्ध रखती हो। शरीर चाहे जिस दशा में रहे मुझे उससे कोई वास्ता नहीं। सारे शरीर मेरे हैं।

६८८—जब ईश्वरीय दृष्टि से देखा जाता है, तब सारा संसार सौंदर्य का प्रवाह, हर्ष का प्रादुर्भाव और आनन्द का स्रोत बन जाता है।

६८९—आप अपनी शक्ति को उच्चोतिउच्च विषयों की ओर लगने दीजिये, जिससे आपके पास उन बातों को सोचने का समय ही न रहे जिनसे कामुकता की गंध आती है।

६९०—भय से और दण्ड से कभी पाप बन्द नहीं होते।

६९१—अपराधों के अनेक नाम हैं, जैसे मातृ हत्या, नर हत्या इत्यादि। परन्तु प्रत्येक प्राणी में ईश्वर को अनुभव न करके

आप ईश्वर हत्या अथवा देव हत्या का सबसे महान् अपरा करते हैं।

६९२—लोग चाहे आपसे भिन्न मत रखें, चाहे आपको नाना प्रकार की कठिनाइयों में डालें और चाहे आपको बदनाम करें, पर उनकी कृपा और कोप, उनकी धमकियों, आश्वासनों और प्रतिज्ञाओं के होते हुए भी आपके मन रूपी सरोवर से दिव्य पवित्र से पवित्र ताजा जल निरन्तर बहना चाहिए। आपके अन्दर से अमृत का प्रवाह बहना चाहिए जिससे आपके लिये बुरी बातों का सोचना उसी प्रकार असम्भव हो जाय जिस प्रकार शुद्ध और ताजा जल स्रोत पीने वाले को विष नहीं दे सकता।

६९३—यदि सत्य के लिये आपको अपना शरीर त्यागना पड़े तो त्याग दीजिये। यही अन्तिम ममता है जिसे हमें तोड़ना होगा।

६९४—क्या तुम्हें अपने ब्रह्मत्व के विषय में सन्देह है? अपने हृदय में ऐसा सन्देह रखने की अपेक्षा गोली मार लेना कहीं श्रेष्ठ है।

६९५—वह कौन है जो आपके सम्मुख है, वह कौन है जो सीधा आपकी ओर देखता है। जब आप किसी मनुष्य की ओर निगाह उठाते हैं वही अन्तर वाला परमात्मा है।

६९६—वेदान्त दर्शन के प्रचार का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है इसे अपने आचरण में लाना है। अन्य कोई भी राजमार्ग नहीं है।

६९७—जिस समय आप अपने को एक ऐसी विचित्र अकथनीय भावना में पहुंचा देते हैं कि जो मैं और तू (द्रष्टा और दृश्य) दोनों से ऊँची है। उसी समय आप वास्तव में मुझ ब्रह्म को पाते हैं। वेदान्त आपको यही रहस्य बतलाता है।

६९८—तुम एक ही साथ इन्द्रियों के दास और विश्व के स्वामी नहीं बन सकते।

६९९—निर्लिप्त साक्षी के रूप में सब झंझटों से मुक्त होकर कर्म करो। सदा स्वतन्त्र और निर्लिप्त रहो।

७००—संसारी मनुष्य के लिये निरन्तर कर्म और निरन्तर परिश्रम ही सबसे महान् योग है। जब आप अपनी दृष्टि से काम नहीं करते तभी संसार के लिये आप सबसे महान् कार्यकर्त्ता बन जाते हैं।

७०१—शब्दों की अपेक्षा कर्म अधिक जोर से वोलते। भाग्य का दूसरा नाम विचार है।

७०२—वेदान्त के अनुसार समस्त संसार आप ही की रचना है, आप ही का संकल्प है तो आप अपने को निर्भय स्वावलम्बी परमात्मा का अवतार क्यों नहीं मानते ? आप अपने को तुच्छ और दीनहीन पापी क्यों समझते हो ?

७०३—ओ धार्मिक वाद-विवाद और दार्शनिक तर्क-वितर्क भाग जाओ। मैं जानता हूं कि सुन्दरता ही प्रेम है और प्रेम ही सुन्दरता है और दोनों ही त्याज्य हैं।

७०४—जरा ऊँ का गान करो, जरा ऊँ का उच्चारण करो और उच्चारण करते समय अपना सम्पूर्ण हृदय उसमें लगा दो, अपनी सारी शक्तियां उसमें जुटा दो, अपना सारा चित्त उसमें लगा दो, ऐसा साक्षात करने में ही अपना सारा बल लगा दो।

७०५—ऊँ का उच्चारण करते समय यदि हो सके तो अपनी समस्त त्रुटियों और सारे प्रलोभनों को अपने मन के सामने चित्रित करो। फिर उन्हें अपने पाँवों तले कुचल डालो और मसल डालो, उनसे ऊपर उठो और विजयी होकर उनसे बाहर निकलो।

७०६—पूर्ण वेग से वायु को मुँह के द्वारा भीतर खींचो और नथनों से बाहर निकालो। इस क्रिया का अभ्यास दृढ़तापूर्वक

करने से आप देखेंगे कि आपको कितनी अद्‌भुत प्रसन्नता होती है।

७०७—श्वांस लो, खूब श्वांस खींचो। गहरी सांस लेने से कोष्ठ के नीचे के हिस्से में वायु भर जायगी और भीतर की सारी नली में फैल जायगी। इस प्रकार से आप तुरन्त ही निराशा से मुक्त हो जायेंगे और अपनी शक्तियों का सर्वोत्तम उपयोग कर सकेंगे।

७०८—वेदान्तिक धर्म का निचोड़ केवल एक ही आदेश में संग्रहीत किया जा सकता है। अपने आपको पूर्ण शान्त और आनन्द मग्न रखो, चाहे जैसी घटना हो, उसमें व्याघात न होना चाहिये। यथा भूख-प्यास, रोग-दुःख, अपमान-लज्जा और मृत्यु। सदैव प्रसन्नचित्त और शान्त रहो, क्योंकि तुम तो परमात्मा हो जिसे तुम कभी नहीं भूल सकते जिसकी तुम कदापि अवहेलना नहीं कर सकते।

७०९—ऐ तूफान ! उठ और जोर-शोर से आंधी-पानी वर्षा कर। ओ आनन्द के महासागर ! पृथ्वी और आकाश को तोड़-फोड़कर एक कर दे। गम्भीर से गम्भीर गोता लगा, जिससे विचार और चिन्तायें छिन्न-भिन्न हो जायं, जिससे कहीं उनका पता ही न चले। आओ अपने हृदय से द्वैत की भावना को चुन-चुनकर निकाल डालें, अपने असीम अस्तित्व की दीवारों को जड़ से ढहा दें जिससे आनन्द का महासागर प्रत्यक्ष लहराने लगे। आओ, प्रेम की मादकता जल्दी चढ़ो, प्रेम की मस्ती ! तुरन्त हमें डुबो दो, विलम्ब करने से क्या प्रयोजन ! मेरा मन अब एक पल, एक निमिष के लिये इस दुनियादारी में फंसना नहीं चाहता तो इस मन को तो अपने में उसे प्यारे प्रभु में डूब जाने दो, शीघ्रता करो ! और उसे जलते हुए तन्दूर की अग्नि से बचा लो, बचा लो। उस मैं और मेरे, तू और तेरे के झमेले

में आग लगा दो। आशाओं और आकांक्षाओं को उतार फेंको। टुकड़े-टुकड़े करके गला दो, द्वैत की भावना जड़ से उड़ा दो, हवा में काफूर हो जाय। कहां सिर, कहां पैर, कहीं कुछ पता न रहे। रोटी नहीं, न सही। आश्रय और विश्राम नहीं, न सही। पर मुझे चाहिये प्रेम की इस दिव्य प्रेम की प्यास और तड़प।

७१०—अपने ईश्वरत्व, अपने ब्रह्मत्व का साक्षात कीजिये और सब काम अपने आप पूरे हो जायेंगे।

७११—दुनिया की तू-तू मैं-मैं में आग लगा दो, समस्त भय और आशा को नष्ट कर दो, भेद-भाव को निकाल दो, सिर और पैर के भेद को तिलांजलि दे दो।

७१२—बाहर दिखाई देने वाली वस्तुएं सब एक साथ जुड़ी हुई हैं। एक वस्तु का वाह्य त्याग करते समय ज्ञानी अपने हृदय में उसे अन्य सब कुछ को त्यागने का चिन्ह और प्रतीक बना लेता है।

७१३—आत्मा से बाहर मत भटको, अपने ही केन्द्र में स्थित रहो अन्यथा तुम गिर पड़ोगे। अपने आप में पूर्ण विश्वास रखो। अपने केन्द्र पर डटे रहो। कोई चीज तुम्हें टस से मस नहीं कर सकती।

७१४—अकबर-दिली, इस्लाम वा विश्वास यदि राई के दाने भर भी हो तो पहाड़ों को हिला सकता है। सिवा परमात्मा के और कुछ नहीं है।

७१५—विपत्ति में धैर्य न खोकर जो लोग भगवत् कृपा के विश्वास पर डटे रहते हैं और सत्य के पथ से जरा भी नहीं डिगते, उनकी विपत्ति बहुत ही शीघ्र महान सम्पत्ति के रूप में बदल जाती है और क्लेश तथा अशान्ति तो उन्हें किसी अवस्था में भी नहीं होते।

७१६—किसी से कुछ भी न मांगो तो लोग तुम्हें देने के लिये तुम्हारे पीछे-पीछे फिरेंगे। मान न चाहोगे, मान मिलेगा। स्वर्ग न चाहोगे, स्वर्ग के दूत तुम्हारे लिये विमान लेकर आवेंगे इतने पर भी तुम इन्हें स्वीकार न करोगे तो भगवान तुम्हें अपने हृदय से लगा लेंगे।

७१७—उपदेशक, वक्ता, सुधारक, गुरु, पथ-प्रदर्शक बनने की कामना मत करो।

७१८—अपने को सदा आनन्द में डुबोये रखो, दुःख की कल्पना ही तुम्हें दुःख देती है।

७१९—सदा शान्त रहो, निर्विकार रहो, सम रहने की चेष्टा करो। जगत के खेल से अपने को प्रभावित मत होने दो, खेल को खेल ही समझो। तुम सदा सुखी रहोगे फिर न कुछ वढ़ाने की इच्छा होगी और न घटने पर दुःख होगा।

७२०—मोह की चादर फाड़ने का प्रधान साधन है आत्मा-शक्ति में विश्वास, आतमबल का निश्चय। विश्वास की ज्योति से मोहतम का नाश तत्काल ही हो सकता है। तुम विश्वास करो, निश्चय करो कि तुम्हारे अन्दर अनन्त शक्ति है। मन, इन्द्रियां सब तुम्हारे सेवक हैं। तुम्हारी अनुमति के विना उनमें जरा भी हिलने-डुलने की सामर्थ नहीं है।

७२१—याद रक्खो—निश्चय, श्रद्धा, विश्वास और आत्म स्वरूप की स्मृति ही तुम्हारी आत्मा की अनन्त शक्ति को प्रकट करने वाले चार महा द्वार हैं। इनकी शरण ग्रहण करो इनका आश्रय लो।

७२२—मूर्खता को छोड़कर हर हालत में आनन्द का अनुभव करो। तुम्हें दुःख आ ही नहीं सकता। तुम दुःख को ग्रहण करते हो इसीसे दुःख आता है। ग्रहण करना छोड़ दो फिर कोई भी दुःख तुम्हारे पास तक नहीं फटकेगा।

७२३—जिसके जीवन का लक्ष्य भगवान होते हैं और जो इस लक्ष्य को दृढ़ता से बनाये रखता है, जगत की विपत्तियां उसके मार्ग में रोड़े नहीं अटका सकतीं। भगवत् कृपा से उसका पथ निष्कंटक हो जाता है। कहीं काँटे रहते भी हैं तो उसका पैर उन पर टिकते ही वे मखमल के तारों की तरह कोमल हो जाते हैं। कोई भी विघ्न उसके सामने आकर विघ्न रूप नहीं रहते वरन् उल्टे उसके सहायक बन जाते हैं।

७२४—जिसको सर्वब्रह्म की बुद्धि भई है, तिसको संसार बुद्धि नहीं और जिसको संसार बुद्धि है, तिसको ब्रह्म बुद्धि नहीं।

७२५—मैं ही सर्वव्यापी अनन्त पुरुष हूँ। मैं ही सबके भीतर बैठकर कार्य कर रहा हूं। सब पैरों के द्वारा चल रहा हूं, सब मुखों से मैं ही बातचीत कर रहा हूं। नासिका के द्वारा श्वास प्रश्वास के कार्य को मैं ही चला रहा हूं। सब इन्द्रियों के द्वारा मैं ही सब व्यापारों को चला रहा हूं।

७२६—अपनी सच्ची आत्मा को, प्रभुओं के प्रभु को इस संसार के मोहक सुखों के बदले मत बेचो।

७२७—जैसे आप सोचते हैं वैसे ही बन जाते हैं। अपने आपको पापी कहो तो अवश्य ही पापी बन जाओगे, अपने को मूर्ख कहो तो अवश्य ही मूर्ख हो जाओगे, अपने को निर्बल कहो तो इस संसार में कोई शक्ति नहीं है जो आपको बलवान बना सके। अपने सर्व शक्तित्व को अनुभव करो तो आप सर्व शक्तिमान हो जाओगे।

७२८—सच्ची विद्या उस समय आरम्भ होती है, जब मनुष्य समस्त बाहरी सहारों को छोड़कर अपनी अन्तरंग अनन्त की ओर ध्यान देता है, उस समय मानो मौलिक ज्ञान का एक स्वाभाविक स्रोत बन जाता है अथवा महान नवीन-नवीन विचारों का चश्मा बन जाता है।

७२९—अपने दृष्टि बिन्दु को बिल्कुल बदल डालिये। हर एक चीज को ईश्वर रूप, ब्रह्म रूप समझिये। ईश्वर और सृष्टि का जो सम्बन्ध है, वही आपका और संसार का संबंध होना चाहिये।

७३०—धार्मिक होने के लिये भी पहले यह प्रतिज्ञा आवश्यक है। मैं अपना रास्ता स्वयं ढूंढ़ लूंगा। सत्य को जानूँगा अथवा प्राण दे दूँगा।

७३१—तुम वीर की तरह खड़े होकर कहो "मृत्यु, तुझ से मैं जरा भी नहीं डरता, तुम व्यर्थ क्यों मुझे डराने की चेष्टा कर रही है।" जब तुम जान जाओगे कि तुम पर मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं है तभी तुम मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकोगे।

७३२—अस्त होते या उदय होते सूर्य की ओर चलिये, नदियों के तट पर विचरिये अथवा ऐसी जगह पर टहलिये जहां शीतल वायु अठखेलियां करता हो, आप अपने को प्रकृति के साथ एक ताल समस्त विश्व के साथ एक स्वर पायेंगे।

७३३—ज्योंही आप इच्छा से ऊपर उठते हो, त्योंही आपका इच्छित पदार्थ आपको ढूंढ़ने लग जाता है, अतः पदार्थ से ऊपर उठो और वह तुम्हें ढूँढ़ेगा—यही नियम है। ज्योंही आप प्रार्थी, इच्छुक, याचक अथवा भिक्षुक का भाव धारण करते हो त्योंही आप परे धकेले जाते हो। आपको इच्छित पदार्थ नहीं मिलेगा। आप इच्छित पदार्थ नहीं पा सकते।

७३४—वास्तव में न आपने जन्म लिया है न फिर जन्म लेगे। आप अनन्त हैं, सर्वव्यापी हैं, नित्य मुक्त अज और अविनाशी हैं। जन्म-मृत्यु का प्रश्न ही गलत है, महा मूर्खतापूर्ण है। मृत्यु हो ही कैसे सकती है जब जन्म ही नहीं हुआ।

७३५—जहां कहीं भी दो हैं वहीं भय है, वहीं खतरा है, वहीं द्वन्द्व है, वहीं संघर्ष है। जब सब एक ही हैं तो किससे घृणा,

किससे संघर्ष, जब सब कुछ वही है तो आप किससे लड़ेंगे ?

७३६—जब तक आप अनेक देखते हैं तभी तक आप अज्ञान में हैं। "इस बहुत्वपूर्ण जगत में जो एक को देखता है, जो उसे अपने आत्मा के रूप में देखता है, अपना स्वरूप जानता है वही मुक्त है। इसलिए समझ लो कि तुम वही हो, तुम ही जगत के ईश्वर हो। तुम्हें दुर्बल कौन बना सकता है ? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है ? जगत में तुम्हीं तो एकमात्र सत्ता हो। तुम्हें किसका भय है, खड़े हो जाओ, मुक्त हो जाओ। समझ लो कि जो कोई विचार या शब्द तुम्हें दुर्बल बनाता है वही एकमात्र अशुभ है। मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनाने वाला संसार में जो कुछ भी है वही पाप है। तुम्हीं जगत के ईश्वर हो तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है।

७३७—ये कठिनाइयां, ये प्रलोभन, ये रुकावटें, ये प्रयत्न और ये विरोध केवल आपको डराने का यत्न करते हैं। ये आपको डराते और धमकाते हैं किन्तु वास्तव में हानि नहीं पहुंचाते। यदि तुम उनसे आंखें लड़ाकर उनकी आंखें नीची कर सको, उन्हें भयभीत कर सको, तो तुम्हें मालूम होगा कि ये कठिनाइयां केवल देखने मात्र की थीं। कठिनाइयां और प्रलोभन केवल मालूम होने भर की कठिनाइयां और प्रलोभन थे।

७३८—यह विचित्र दुनिया भी क्या आप ही के हाथ की कारीगरी नहीं है ? निस्सन्देह यह आपकी अपनी ही सृष्टि है। यह समझ लो। यह खूब हृदयंगम कर लो।

७३९—सब साधारण और असाधारण कामनाओं और अभिलाषाओं को दूर फेंक दो। ऊँ, ऊँ रटो। यदि कुछ पल भी आप ऐसा करें तो सिर से पैर तक आपका सारा अस्तित्व

ज्योतिर्मय हो जाय। जब आप स्वयं ही प्रकाश हैं तो प्रकाश के लिये प्रार्थना क्यों ? आप तुरन्त प्रकाश हो सकते हैं।

७४०—आप विचार करें कि किस चीज में आपका चित्त लगा हुआ है। यदि आप नाम या यश की चाह में आसक्त हैं तो उसे दूर कर दीजिये। यदि लोकप्रियता की इच्छा के मोहजाल में आप उलझे हुए हैं तो उससे अपने को विरक्त कर लीजिये। यदि संसार का हित करने की आकाँक्षा और अभिलाषा में आपका अनुराग है तो उसे भी त्याग दीजिये।

७४१—आप अपना कर्त्तव्य या काम कीजिये पर उसके लिये न तो कोई चिन्ता हो और न इच्छा। अपने काम को करो, अपने काम में सुख अनुभव करो, क्योंकि आपका काम स्वयं सुख या विश्राम है, क्योंकि आपका काम आत्मानुभव का ही दूसरा नाम है। अपने काम में लगे रहिये, क्योंकि काम आपको करना ही है। काम आपको आत्मानुभव कराता है। किसी दूसरे हेतु से काम न कीजिये। स्वतन्त्र वृत्ति से अपने काम पर आइये। जैसे एक राजकुमार मनोरंजन के लिये फुटवाल या दूसरा कोई खेल खेलने जाता है वैसे ही आप अपने काम पर आइये, क्योंकि सुख या आनन्द कर्म के रूप में रहता है। हम अपने को स्वतन्त्र समझें, न किसी भी चीज की कैद में।

७४२—किसी डर को अपने पास मत फटकने दो।

७४३—कोई जिम्मेदारी नहीं, कोई भय नहीं। अच्छा, तुम्हें डर क्यों होता है ? केवल इसलिये कि तुम्हें आशंका रहती है कि कहीं अमुक चीज जाती न रहे, तुम इस मनुष्य से डरते हो, उस मनुष्य से डरते हो, तुम्हें हँसी का डर है, क्योंकि तुम्हें यश की अभिलाषा है, तुम कीर्ति में आसक्त हो। समस्त भय और चिन्तायें इच्छाओं का परिणाम है।

७४४—इन सब वाह्य विविध नाम रूपों में स्वयं तुम्हीं आभिर्भूत हुए हो।

७४५—असल में डरने की बात ही नहीं। चारों ओर आगे और पीछे भूत और भविष्य में सारे देश में एक ही परमात्मा विद्यमान है और वह मेरा ही अपना स्वरूप है फिर मुझे डर किस से हो।

७४६—हटो, ऐ संकल्पों और इच्छाओं हटो! तुम संसार की क्षणभंगुर प्रशंसा और धन से सम्बन्ध रखते हो। शरीर चाहे जिस दशा में रहे, मुझे उससे कोई वास्ता नहीं, सारे शरीर मेरे हैं।

७४७—यदि देखने में अत्यन्त निकृष्ट (भोंडा) तीक्ष्ण स्वभाव काला-भौंराला व्यक्ति है तो वह तुम्हारा ही अपना आप है। इस तथ्य से तुम मुक्त नहीं। अतः घृणा कैसी? और यदि कोई सुन्दर स्वरूप शुक्र समान सृष्टि की शोभा और अति विलास भरी अप्सरावत है तो तुम्हारा अपना ही आप है। वह स्वयं तुम्हीं हो, फिर आसक्ति किस से? मोह क्यों? तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियां, जो उसे अलग दिखाती हैं, सरासर झूठ बोलने वाली हैं। इनका विश्वास मत करो। तुम सब शरीरों की जान हो। सब कुछ तुम हो।

७४८—मैं सब का द्रष्टा हूं, मेरा द्रष्टा कोई नहीं है।

७४९—जिसने जान लिया है कि जगत मिथ्या है और भ्रम करके प्रतीत होता है, वह फिर दुखी नहीं होता है और न उसमें उसको आसक्ति होती है, किन्तु यावत जगत है उस सब को मिथ्या जानता है। उस मिथ्यात्व के निश्चय का नाम ही जगत नाश है। यद्यपि स्वरूप से कदापि इसका नाश नहीं होता है, यह सदा प्रवाह रूप से बना ही रहता है।

७५०—जब सारा जगत रज्जु में सर्प की तरह कल्पित है और मिथ्या है, तब बद्ध और मोक्ष पुरुष को कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?

७५१—यदि आपका ये सांसारिक बातें नहीं हिला सकतीं तो आप संसार को अवश्य हिला सकते हैं।

७५२—आपका अपने स्वरूप में लीन होना ही आपको सारे संसार का सम्राट् बना देगा। यह सम्राट् पद केवल इस संसार में ही प्राप्त नहीं होगा, वरन् आपका अपने स्वरूप में विश्वास करना आपको समस्त लोक और परलोक का सम्राट बना देगा।

७५३—परोपकार का उपाय केवल हा-हा हू-हू नहीं, वरन् सर्वोत्तम परोपकार अपने आत्मा में लीन होना है। अतएव अपने आपको अपने स्वरूप में लीन करना ही परोपकार करना है।

७५४—"मैं आत्मा ही हूं" शरीर नहीं हूं, ऐसा दिन-रात अभ्यास करना ही अपने आत्मानन्द का आनन्दघन अवस्था में लाना है और यही अभ्यास या पुरुषार्थ आनन्द के प्राप्त करने का ठीक प्रयत्न है।

७५५—ईश्वर भीतर बैठा है। संसार का काम कभी नहीं बिगड़ेगा।

७५६—यह संसार मिथ्या है। जो पुरुष इसको सत्य जानता है सो महामूर्ख है। अरु भ्रम विषे भ्रम को देखता है। अरु महा मोह को प्राप्त होता है।

७५७—हे जनक ! चाहे तुमको महादेव जी आकर उपदेश करें या विष्णु भगवान आकर उपदेश करें या ब्रह्मा जी आकर उपदेश करें तुमको सुख कदापि न होगा। जब विषयों का त्याग करोगे तभी शान्ति और आनन्द को प्राप्त होगे।

७५८—इस संसार मण्डल में तत्ववित ज्ञानी कभी खेद को प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि वह जानता है कि मुझ एक करके

ही यह सारा जगत व्याप्त हो रहा है। खेद दूसरे से होता है। सो दूसरा उसकी दृष्टि में है नहीं।

७५९—हजारों में कोई एक पुरुष अन्दर से शान्त चित्त वाला होकर बाहर से मूढ़वत व्यवहार करता है।

७६०—यह विश्वास रखो कि तुम्हीं सब कुछ हो। महान् कार्य करने के लिए इस धरती पर आये हो। गीदड़ घुड़कियों से भयभीत मत हो जाना। चाहे वज्र भी गिरे, तो भी निडर हो खड़े हो जाना और कार्य में लग जाना।

७६१—अतः बीर बनो। पर्वत की भांति अडिग रहो। क्षुद्र अबोध जीव तुम्हारे विरुद्ध क्या कहते हैं इसकी तनिक भी परवाह मत करो। उपेक्षा, उपेक्षा। पर्वत काय विघ्न बाधाओं में से होते हुए ही सारे महान् कार्य होते हैं। काम और कांचन में जकड़े हुए मोहान्ध व्यक्ति उपेक्षा की ही दृष्टि से देखे जाने योग्य हैं।

७६२—खड़े होओ, साहसी बनो, शक्तिमान होओ। सारा उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लो, तुम्हें जो कुछ बल और सहायता चाहिए सब तुम्हारे ही भीतर है।

७६३—अपने उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ हो; फिर चाहे समुद्र तल में ही क्यों न जाना पड़े; साक्षात मृत्यु का ही सामना क्यों न करना पड़े ?

७६४—जो कुछ तुम्हें शरीर से बुद्धि से या आत्मा से कमजोर बनाये, उसे विष की भांति त्याग दो। वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, पवित्रता स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है। सत्य तो वह है जो शक्ति दे।

७६५—यदि सारी दुनिया भी सत्य के विरोध में खड़ी हो जाय तो भी अन्त में सत्य की ही विजय होगी।

७६६—यदि हम कहें कि भगवान ही हम सबके पिता हैं और अपने दैनिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई न समझें तो फिर उसकी सार्थकता ही क्या है ?

७६७—सुख अपने सिर पर दुःख का मुकुट पहने मनुष्य के सम्मुख आता है। जो उसको अपनायेगा उसे दुःख को भी अपनाना पड़ेगा।

७६८—दूसरों के दोषों की चर्चा मत करो, चाहे दोष कितने ही बुरे क्यों न हों। किसी के दोषों की चर्चा करके तुम कभी उसका उपकार नहीं करते, बल्कि तुम उसे चोट ही पहुंचाते हो और साथ ही अपने को भी।

किसी की सहायता की अपेक्षा न रखो। क्या भगवान सारी मानवी सहायता की अपेक्षा अनन्त गुने अधिक नहीं है ? भगवान में विश्वास रखो। सर्वदा उसी का भरोसा रखो और बस तुम्हारे पैर सदा ठीक मार्ग में पड़ेंगे, फिर कोई भी चीज तुम्हारा सामना न कर सकेगी।

७६९—सफलता के लिए तीन बातें अनिवार्य हैं—पवित्रता, धैर्य और अध्यवसाय और सर्वोपरि चाहिए प्रेम।

७७०—यदि किसी व्यक्ति में सत्य, पवित्रता और निस्वार्थता—ये तीन बातें विद्यमान हैं तो इस ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई ताकत नहीं जो उसका बाल भी बांका कर सके। इन तीनों से सज्जित रहने पर मनुष्य सारे जगत का सामना कर सकता है।

७७१—सत्य असत्य से अनन्त गुना प्रभावशाली है और ऐसे ही भलाई भी बुराई से। यदि ये बातें तुम में हों तो वे अपने प्रभाव से ही अपना रास्ता बना लेंगी।

७७२—ईश्वर में स्थिति हो, बस ठीक है, दूसरों को ईश्वर में स्थित करो और सब ठीक हो जायगा। इस सत्य में विश्वास करो, तुम्हारी रक्षा होगी।

७७३—जिस पदार्थ को यह देखता है सो पदार्थ पूर्व कोऊ नहीं, चित्त के फूरणे से उदय होता है जब चित्त फुरा कि या पदार्थ है तब आगे पदार्थ हुआ।

७७४—पोल निकाल्यो जगत को सुषुप्ति अवस्था मांहि।
नाम रूप संसार की जहां गंध कछु नाहिं॥
जहां गन्ध कछु नाहिं वर्णाश्रम भ्रम काटी।
लेश कहूंना रही किसी मत को मर घाटी॥
कह गिरधर कविराय आत्मा एक अडोला।
ता विन और प्रपंच सर्वको काढ्यो पोला॥

७७५—अपनी पगड़ी से अपना ही कफन वना
मैं आया हूं कूचे यार में।
ताना लगा ले जिसका जी चाहे मुझे
ऐसे वैसों की परवाह भी नहीं।

७७६—किसी गुरु या उपदेशक की सहायता से हम क्या और कितना सीख सकते हैं। इस पर उनका विशेष ध्यान न था। यह विचार कभी उनके हृदय में उठा ही नहीं कि जीवात्मा और परमात्मा की आत्मीयता की सिद्धि के लिये कभी किसी दूसरे की मध्यस्थता की आवश्यकता हो सकती है, क्योंकि वे तो दो नहीं, सर्वथा एक है।

७७७—समाधि या सुषुप्ति में सब एक हैं। जाग्रत में भिन्न शरीरों, भिन्न मनों में एक ही अनेक होता है।

७७८—जो व्यक्ति ऐसा अभ्यास बराबर करता रहेगा कि "मैं शरीर नहीं हूं," "मैं परिछिन्न मन, बुद्धि, अहंकार आदि नहीं हूं, किन्तु सम्पूर्ण शरीरों का स्वामी हूं और सब शरीरों में मैं ही फैला हुआ हूं" तो उसका अनुभव इस बात के प्रमाण में स्वयं साक्षी देगा कि हां, भीतर बाहर सब वस्तुओं में केवल एक

ही चेतन आत्मदेव निवास कर रहा है और एक ही आत्मा (जो वास्तव में मैं हूं) सम्पूर्ण जगत् में फैला हुआ है।

७७९—आत्म विश्वास ही सफलता की कुँजी है।

७८०—यदि इस नियम पर कि "जो सत्य है वह ब्रह्म है" इतनी अपेक्षा करो, जितना सांसारिक मनुष्यों की राजी नाराजी की करते हो, तो कोई विपत्ति आपके सिर पर नहीं आ सकती।

७८१—यह शरीर फट जाय, यह शरीर टूट जाय, हृदय विदीर्ण हो जाय, परन्तु तेरे अतिरिक्त अन्य कोई विचार हृदय में न उठे।

७८२—जब कभी साँसारिक मित्रों, प्रियजनों तथा कुटुम्बियों पर विश्वास करके वह प्रेम, जो ईश्वर के लिये होना चाहिये, आप उनसे करते हो, तो अवश्य धोखा खाओगे।

७८३—जो कोई ईश्वर के अतिरिक्त और कहीं मन लगा-वेगा, धोखा खावेगा, दगा उठावेगा, छोड़ा (त्यागा) जावेगा।

७८४—इस संसार पर विश्वास करना ही मौत है। तेरा असली आत्मा तो आनन्दस्वरूप है। जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्न में अपनी एकता नहीं जानता है, किन्तु अनेक रूप करके अपने को जानता है। उसी प्रकार यह आनन्द स्वरूप आत्मा जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति रूप तीनों स्वप्नों को देखता हुआ अपनी एकता को अनुभव नहीं करता।

७८५—जैसे कारण सामग्री से रहित एक स्वप्न पुरुष में अकस्मात् जगत प्रकट हो जाता है उसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा में अकस्मात् स्थूल सूक्ष्म रूप प्रपंच प्रकट हो जाता है।

७८६—जैसे स्वप्न में यह पुरुष बिना प्रयोजन के अपने को आप ही दुःख की प्राप्ति कराता है। वहां अपने सिवाय दूसरा कोई नहीं है। उसी प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मा भी जाग्रत में व्यर्थ ही अपने को दुःख की प्राप्ति कराता है।

७८७—जैसे स्वप्न में यह पुरुष नाना पदार्थ को आप ही रचता है और आप ही उनको भोगता है ।

७८८—मन्द अधिकारी अपने हृदय में परमात्मा का ध्यान करें । जो उत्तम अधिकारी हो वह ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाकर श्रद्धा सहित महावाक्य को सुने । पश्चात् मनन और निधिध्यासन द्वारा अपने आप प्रत्यक्ष को जाने । जब अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब शान्त आत्मा होता है, दूसरी प्रकार से नहीं होता जब तक महावाक्य का श्रवण प्राप्त नहीं हुआ तब तक मन्द अधिकारी है उसको चाहिए कि वह हृदय कमल में अपने आपका ध्यान करे । इस ध्यान के प्रसाद से उसको आत्मज्ञानी गुरु मिल जायगा ।

७८९—मन, बुद्धि, अहंकार आदि छाया की नांई जड़ हैं, क्षणभंगुर हैं क्योंकि ये उत्पन्न होते हैं और लीन हो जाते हैं । जिस चैतन्य की छाया इनमें पड़ती है वही सबकी आत्मा है । मन, बुद्धि, अहंकारादि का अभाव तो हो जाता है पर इनके अनुभवी का नाश नहीं होता ।

७९०—जैसे यह पुरुष स्वप्न में आप ही सिंह बनता है और आप ही मनुष्य बनकर भय के मारे जाग उठता है, तब समझता है कि मेरे सिवाय तो वहां कुछ नहीं था । उसी प्रकार जीवनमुक्त बोधवान भी जानता है कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्भ पर्यन्त सब पदार्थ और व्यवहार मेरे संकल्प के आश्रय सिद्ध हैं । मुझ सच्चिदानन्द आत्मा से इतर कुछ नहीं है ।

७९१—जैसे स्वप्न द्रष्टा पुरुष को स्वप्न के दुःख-सुख जन्म-मरण आदि स्पर्श नहीं करते क्योंकि सब कुछ वह स्वयं ही है । उसी प्रकार जीवन मुक्त ज्ञानवान को सुख-दुःख, जन्म-मरण, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म आदि स्पर्श नहीं करते क्योंकि सब उसका अपना आप है ।

७९२—मैं सत्, चैतन्य, अद्वित्तीय हूं। मेरे से इतर कुछ नहीं है। फिर मैं क्यों भय करूँ ? इस विचार द्वारा वह निर्भय हुआ।

७९३—जैसे कोई पुरुष स्वप्न अवस्था से जाग्रत अवस्था को प्राप्त होकर स्वप्न जगत को मिथ्या जानता है और स्वयं को एक का एक ही देखता है।

७९४—वही भूमा नाम की आत्मज्योति कुत्तों में पड़कर भौं-भौं करती देखी जाती है, वही शूकरों में रहकर घुर-घुराती और गधों में रहकर रेंकती है। परन्तु प्रायः मूर्ख लोग शरीरों पर ही दृष्टि रखते हैं, चैतन्य तत्व पर नहीं।

७९५—यह सब प्रपंच हमारी फुरना है, कल्पना मात्र है। फिर बताओ हम किस की इच्छा करें। हम सर्व आत्मा हैं और सब कुछ हमको प्राप्त है। हमारे से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं है जिसकी हम इच्छा करें।

७९६—पंच भूत, मन, बुद्धि तथा अहंकार नाम की यह आठ प्रकृतियां ही उस चिन्मात्र भूमा आत्मा के अपरमार्थिक रूपान्तर हैं जब इन सबके साक्षी का ध्यान किया जाता है तभी निरुपाधिक सदा शिव आत्मदेव दृष्टिगोचर होने लग पड़ता है। जब इन आठों प्रकृतियों पर किसी साधक की दृष्टि पड़ी तभी उसको शीघ्र ही अपने भूमा सदा शिव का अखंड दर्शन हो जाता है। यहाँ तक कि समाधि होने लग पड़ती है और धीरे-धीरे संसार के कार्यों से उपरामता होने लगती है।

७९७—वेदान्त दर्शन तो कहता है कि आँखों से जो दीखता है, नाक से जो सूंघा जाता है, जीभ से जो चखा जाता है तथा त्वचा से स्पर्श किया जाता है, वह सभी मिथ्या है। इसका अर्थ यह है कि वह सब परिवर्तनशील है।

७९८—मैं सम, शान्त और सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही हूं। असत् स्वरूप देह मैं नहीं हूं। इसी को बुद्धजन ज्ञान कहते हैं।

७९९—मैं दुःख हीन, आभास हीन, विकल्पहीन और व्यापक हूं। असत् स्वरूप देह मैं नहीं हूं। इसको बुद्धजन ज्ञान कहते हैं।

८००—मैं निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, नित्यमुक्त और अच्युत हूं। असत् स्वरूप देह मैं नहीं हूं। इसी को बुद्धजन ज्ञान कहते हैं।

८०१—मैं निर्मल, निश्चल, अनन्त शुद्ध और अजर-अमर हूं। असत् स्वरूप देह मैं नहीं हूं। इसी को बुद्ध जनज्ञान कहते हैं।

८०२—मैं निर्विकार, निराकार, निर्मल और अविनाशी हूं। असत् स्वरूप देह मैं नहीं हूं। इसी को बुद्धजन ज्ञान कहते हैं।

८०३—मैं एक से अनेक हूं और अनेक से एक भी मैं ही हूं। वास्तव में मैं शुद्ध हूं, अभय, अक्रिय, अविनाशी हूं।

८०४—जब मनुष्य भी भविष्य की चिन्ता का त्याग कर देता है, जब वह देह को सीमाबद्ध और इसलिए उत्पत्ति विनाशशील जानकर देहाभिमान का त्याग कर देता है, उसी समय एक उच्चतर अवस्था में पहुंच जाता है।

८०५—यों प्रत्येक भूत और प्रत्येक भौतिक पदार्थ की असत्त पर जब बार-बार विचार चलेगा तब अद्वैत के सत्य होने की बात दृढ़तर होती जायगी।

८०६—पाँचों भूत या पांचों भूतों से बना हुआ कोई भी पदार्थ जब दीखे तभी उसके सत्य तत्व पर दृष्टि पड़ने लगे और उसमें ही जमने भी लगे तो यही 'द्वैतावज्ञा' कहाती है, यही अद्वैत बुद्धि कही जाती है और उसे ही 'ब्राह्मी स्थिति' भी कह देते हैं।

८०७—सर्व आनन्द ही है पर भ्रान्ति करके दुःख भासता है।

८०८—मुझे न कोई भय है और न मृत्यु है, न मुझे भूख है, न प्यास है, प्रकृति की कोई भी व्यथा मुझे नष्ट नहीं कर सकती। मैं वही हूं, मैं वही हूं।

८०९—एक ही स्वयं प्रकाश ब्रह्म द्रष्टा और दृश्य दोनों रूपों में खेल रहा है। यानि द्रष्टा देखने वाला भी आप है और दृश्य

यानि दिखाई देने वाला भी आप है। पर देखने वाला एक रस है।

८१०—एक शिलाखण्ड लुढ़कता आ रहा था। इससे पूर्व कि वह बुद्ध पर गिरे शिलाखण्ड एक दूसरी चट्टान से टकराया। भयंकर गर्जन के साथ उसके दो टुकड़े हो गये। दोनों टुकड़े लक्ष्य से भाग गये। दोनों टुकड़े ध्यानस्थ बुद्ध के दोनों ओर अधिक-अधिक दूरी पर गिरे। बुद्ध बच गये। एक कंकड़ी उनके पाँव में लगी। क्षत हुआ हलका सा रुधिर वहा। वह कुशलतापूर्वक अपने स्थान से उठ खड़े हुए। भिक्षुओ ! सम्यक समाधि का यह ज्वलन्त प्रमाण है। मेरे पांव में जो क्षति हुई है वह केवल ध्यान की पूर्णता में कुछ अभाव का फल है।

८११—न दुश्मन है कोई अपना,
न सज्जन ही हमारे हैं।
हमारे ख्याल फिरने से बने,
ये कुल पसारे हैं।

८१२—आत्म-प्रकाश सूर्य की सुनहरी किरणों, चन्द्रमा की धवल चांदनी तथा रात्रि की काली कालिमा को प्रकाश करने वाला अखण्ड चेतनस्वरूप है।

८१३—जैसे प्रकृति के हर एक पदार्थ को देखने के लिए प्रकाश का होना आवश्यक है, वैसे ही मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि को अपना कार्य करते समय आत्म-प्रकाश की आवश्यकता है। क्योंकि बाहर के जड़, प्रकाश, मन, बुद्धि, प्राणादिकों को चेतन करने में समर्थ नहीं हैं।

८१४—ब्रह्मत्व की अपेक्षा बाहरी व्यापार में आप अधिक विश्वास रखते हैं। आप दुनिया को परमेश्वर से अधिक सत्य बना देते हैं।

८१५—इन्द्रिय ज्ञान भ्रान्ति मात्र है, सब नाम मात्र तथ्य, जिनको आप तथ्य मानते रहे हैं, माया मात्र वा भ्रम मात्र हैं।

इन्द्रियों के इन्द्रजाल ने आपके लिये इनको बना रखा है। इन्द्रियों के चक्र में न आओ।

८१६—यदि तुम सत्य के मार्ग से नहीं हटते तो प्रवाह तुम्हारे साथ है, समय तुम्हारी ओर है, क्षेत्र तुम्हारे हाथ है। लोगों की पिछली महिमा पर उछलने दो, अगली महिमा सबकी सब तुम्हारी है।

८१७—जब तुम दिव्य प्रेम के साथ चाण्डाल में, चोर में, पापी में, अभ्यागत में और सब में उस प्रभु के दर्शन करोगे तब तुम भगवान कृष्ण के प्रेम पात्र बन जाओगे।

८१८—व्यक्ति, रूप, मान, पद, धन, विद्या और आकार का सत्कार करना मूर्ति पूजन है।

८१९—हमारा यदि परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास है तो हम किसी से नहीं डरेंगे। राजा महाराजाओं से नहीं, वाइसराय से नहीं, खुफिया पुलिस से नहीं और स्वयं बादशाह से नहीं।

८२०—आचार्य गौड़पाद ने स्पष्ट कह दिया है चाहे आप आपस में लड़ते रहें, लेकिन आप हमसे नहीं लड़ सकते। आप सारे हमारे पेट में हैं।

८२१—यह दृश्य पदार्थ सर्वथा मिथ्या ही है। इसका किसी काल में अस्तित्व नहीं है।

८२२—मनुष्य सारे प्राणियों से श्रेष्ठ है, सारे देवताओं से श्रेष्ठ है, उससे श्रेष्ठ और कोई नहीं है। देवताओं को भी फिर से धरती पर आना पड़ेगा और मनुष्य शरीर धारण कर मुक्ति प्राप्त करनी होगी।

८२३—निश्चिन्तता के दो सूत्र—जो जरूरी है उसे पूरा कर डालें, जो गैरजरूरी है उसे भुला डालें।

८२४—निश्चिन्तता ही तो स्वास्थ्य सुधार की सबसे बड़ी दवा है।

८२५—संसार के समस्त नर-नारी ही हमारी अपनी ही सन्तान हैं।

८२६—साधो सहज समाधि भली।

गुरु प्रताप जा दिन ते उपजा,
दिन दिन अधिक चली॥
जहं जहं डोलो सोइ परिकरमा,
जो कुछ करे सो सेवा॥
जब सोवो तब करो दण्डवत्,
पूजो और न देवा।
कहौ सो नाम, सुनौ सो सुमिरन,
खावौ - पियौ सो पूजा॥
गिरह उजाड़ एक सम लेखौ,
भाव न राखौ दूजा।
आंख न मूँदौ, कान न रूंधौ,
काया कष्ट न धारौ।
खुले नैन पहिचानौ हंसि हंसि,
सुन्दर रूप निहारौ॥
सबद निरन्तर से मन लगा,
मलिन वासना त्यागी।
उठत बैठत कबहूं न छुटै,
ऐसी तारी लागी॥
कहे कबीर यह उन्मुनि रहनी,
सो प्रगट करि गाई।
दुःख-सुख से कोई परे परमपद,
ते ही पद रहा समाई॥

८२७—चाहे संसार भर के सारे बड़े-बड़े उपदेशक आ जायं, ईसा तथा स्वयं ईश्वर आकर उपदेश करें, परन्तु जब तक स्वयं

अपने को उपदेश देने के लिये तत्पर नहीं होंगे तब तक दूसरों के उपदेशों से रंचमात्र लाभ न होगा। सच्चे महात्माओं के निकट क्रोध मूर्ति मनुष्य भी पानी-पानी हो जाते हैं। जंगल के भेड़िये, सिंह आदि उन्हें देख प्रेम-विह्वल हो जाते हैं। सांप, बिच्छू आदि अपने दुष्ट स्वभाव को भूल जाते हैं।

८२८—सफलता ईश्वर में तन्मय और तल्लीन होने से मिलती है। सदा ऐसा ही हुआ करता है।

८२६—जो मुक्त है, सारी प्रकृति उसकी बन्दना करती है, सारा विश्व उसके सामने सिर झुकाता है। मैं मुक्त हूं, आप मुक्त हैं। चाहे आज यह माना जाय या नहीं, पर वह एक निष्ठुर सत्य है, देर या सवेर इसे सब लोगों को अनुभव करना पड़ेगा।

८३०—ऐ मनुष्य ! तू ही अपनी ही चितवन से सारी वस्तुओं को चित्ताकर्षक बना देता है। (उन प्रेम भरी) आँखों से जब तुम उनकी ओर देखते हो तुम्हीं स्वयं अपनी चमक उन पर डाल देते हो और फिर तुम्हीं उनके प्रेम में फँस जाते हो।

८३१—मैंने विचित्र और पेचीदे मार्गों से उन तत्वों की खोज की जो मुझे ईश्वर तक पहुंचा सकें, किन्तु जिस प्रत्येक नई सड़क पर मैं चला तत्व को दूर ही पाया। फिर मैंने बुद्धिमता और विद्या की खोज की, परन्तु जितनी अधिक खोज की, उतने ही वे मुझसे दूर भागे और गुरुओं, किताबों और विद्यालयों ने मेरे विचारों को उल्टा गड़बड़ कर दिया। मैं (थककर) बैठ गया, इस तरह से जब निस्तब्धता की दशा विद्यमान थी और संयोगतः अपने भीतर ध्यान किया तो इस अन्तर्द्दष्टि से मुझे सब कुछ मिल गया। जिसकी मैं खोज में था और मेरी आत्मा ने सबको व्याप्त कर लिया।

८३२—यदि तू ईश्वर और तुच्छ संसार दोनों को एक साथ चाहता है तो यह तेरी भ्रान्ति और पागलपन है।

८३३—करें हम किसकी पूजा,
और लगायें किसके चंदन हम ।
सनम हम, दैर हम, बुतखाना,
हम, बुत हम, विरहमन हम ॥

८३४—मैं वही हूं, मैं वही हूं, मैं वही हूं । जिस जगह तेरी आँख पड़े उसको तू मेरे अतिरिक्त मत जान ।

८३५—जैसे स्वप्न में कर्त्ता, क्रिया और कर्म अपने में प्रतीत होते हैं और हैं नहीं, तैसे जाग्रत की त्रिपुटी भी है ।

८३६—वेदान्त का यह अनुशासन है कि 'नीच' शत्रु, पाषाण-हृदय, पिशाच कोई है ही नहीं । मेरा पवित्र स्वरूप ही समस्त रूपों में प्रति समय शोभायमान है । अपने आपका कोई अनिष्ट नहीं करता । अत: मेरा अनिष्ट करने वाला कौन है ? अन्य तो कभी विचार गर्भ में भी उपस्थित नहीं हुआ । द्वैत दृष्टि का पाप तोड़ो ।

८३७—जैसे साधारण मनुष्य को पत्थर, गाय, भैंस दृष्टि-गोचर होती हैं, उसी जोर से आनन्दघन अद्वैत स्वरूप का सबमें अनुभव करना अमर होता है ।

८३८—विचित्र दर्शन है कि दर्शन करने वाला दो नहीं रहते-अपने आप तमाशा और अपने आप तमाशा देखने वाला। आश्चर्य है हर (परमेश्र) का दर्शन यही है कि हर (पशु, पक्षी, मनुष्य, सारा संसार) मैं ही हूं ।

८३९—जब ईश्वरी दृष्टि से देखा जाता है तो सारा संसार सौंदर्य का प्रवाह, हर्ष का प्रादुर्भाव और आनन्द का स्रोत बन जाता है ।

८४०—यदि कोई मनुष्य अपने अन्त:करण में किसी को सत्य या विश्वासपात्र मानेगा तो अवश्य ही वह उस पदार्थ से अलग हो जायगा । अथवा धोखा खायेगा ।

८४१—तुम अपने आपको ईश्वर, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, कृष्ण अथवा संसार के अन्य किसी महात्मा के आधीन क्यों समझते हो ? तुम सबके सब स्वाधीन हो।

८४२—परमात्मा का दर्शन केवल शास्त्र और गुरु से नहीं होता किन्तु सतोगुण में स्थित रहने वाली अपनी बुद्धि के द्वारा आत्मा का मनन करने से ही आत्मा का दर्शन होता है।

८४३—इस शरीर को काष्ठ और लोहे के समान (जड़) जानना बस केवल इतने ही ज्ञान मात्र से सबके स्वामी ब्रह्मरूप का बोध हो जाता है।

८४४—जिस चित्त में मुक्ति को देने वाली यह वासना है कि दृश्यमान यह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है (वह साक्षात मोक्षस्वरूप है)। अतएव अज्ञान रूप भेदबुद्धि द्वैतभाव को सर्वथा त्याग देना चाहिए।

८४५—मैं भी नहीं हूं यथा मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। साक्षात् आनन्द से परिपूर्ण केवल निरन्तर और सर्वत्र एक ब्रह्म ही है, उद्वेग को त्याग कर ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिए।

८४६—संसार में चर और अचर यह जो कुछ भी दीखता है यह सब मन ही का दृश्य है (वास्तव में कुछ नहीं) और मन का लय हो जाने पर फिर द्वैतभाव नहीं रहता।

८४७—वेदान्त कहता है कि इस व्यक्ति या उस व्यक्ति की भावनाओं की अपेक्षा सत्य को अधिक महत्व दो, क्योंकि यदि आप सत्य का सत्कार करेंगे तो आप यथार्थ में मित्र को महत्व देंगे।

८४८—जिस समय आप यह जान लेंगे कि दूसरों का हित करना अपना ही हित करना है और किसी की हानि करना अपनी ही हानि करना है, उस समय आप धर्म के स्वरूप का साक्षत्कार कर सकेंगे।

८४९—तुम आत्म प्रतिष्ठा, दलबन्दी और ईर्ष्या को सदा के लिये छोड़ दो। तुम्हें पृथ्वी माता की तरह सहनशील होना चाहिए। यदि तुम ये गुण प्राप्त कर सको तो संसार तुम्हारे पैरों पर लोटेगा।

८५०—जो दूसरों का सहारा ढूंढ़ता है, वह सत्य स्वरूप भगवान की सेवा नहीं कर सकता।

८५१—जो दुःख-सुख में समान रहता है तथा सम्पूर्ण अवस्थाओं में अपने अनुकूल ही बना रहता है, जो हृदय का एक मात्र विश्राम-स्थान है, वृद्धावस्था जिसके रस को नष्ट नहीं कर सकती, जो समय के बदलने से स्वयं नहीं बदलता और जिसकी स्थिति स्नेह सार ही रहती है, सत्य पुरुष के इस प्रकार के सुन्दर प्रेम के पात्र कोई बड़भागी पुरुष ही होते हैं।

८५२—नाम जप में देश, काल, पात्र, जाति, वर्ण, समय, असमय, शुचि, अशुचि इन सभी बातों का विचार नहीं होता।

८५३—शोक और मोह का कारण है प्राणियों में विभिन्न भावों का अध्यारोप। जब मनुष्य एक को तो अपना सुख देने वाला प्यारा, सुहृद् समझता है और दूसरे को दुःख देने वाला शत्रु समझकर उससे द्वेष करने लगता है तब उसके हृदय में शोक और मोह का उदय होना अवश्यम्भावी है। जिस समय सभी प्राणियों में वह उसी अखण्ड सत्ता का अनुभव करने लगेगा, जब प्राणी मात्र को प्रभु का पुत्र समझकर सबको महान् भाव से प्यार करेगा तब उस साधक के हृदय में मोह और शोक का नाम भी न रहेगा। वह सदा प्रसन्न होकर भगवन्नामों का स्मरण-चिन्तन करता रहेगा। उसके लिये न तो संसार में कोई शत्रु होगा न मित्र, वह सभी को अपने प्रियतम की प्यारी सन्तान समझकर भाई के नाते से जीवमात्र की वन्दना करेगा और उसे भी कोई क्लेश न पहुंचा सकेगा। उसके सामने विषधर सर्प भी

अपना स्वभाव छोड़ देगा। भगवन्नाम का महात्म्य ही ऐसा है।

८५४—जिसे अपने प्राणों की परवाह नहीं, जो मृत्यु का नाम सुनकर तनिक भी विचलित न होकर उसका सर्वदा स्वागत करने के लिये प्रस्तुत रहता है। उसके लिये संसार में कोई काम दुरुह नहीं। उसे इन वाह्य शस्त्रों की उतनी अधिक अपेक्षा नहीं, उसका तो साहस ही शस्त्र है। वह निर्भीक होकर अपने साहस रूपी शस्त्र के सहारे अन्याय के पक्ष लेने वाले का पराभव कर सकता है। फिर भी वह अपने विरोधी के प्रति किसी प्रकार के बुरे विचार नहीं रखता।

८५५—जब सभी अपने प्रभु का ही स्वरूप है तो भय किसका ? भय दूसरे से होता है अपने आपसे किसी को भय नहीं। द्वेष गैर से किया जाता है, जब सभी श्याम सुन्दर के ही रूप हैं, तब द्वेष किससे करें और क्यों करें ?

८५६—बकवादी लोग जैसा चाहें वैसा बकवाद किया करें, हम उस पर ध्यान नहीं देंगे। हम तो बस हरि नाम रस की मदिरा के नशे में मस्त हो भूमि पर नाचेंगे, लोटेंगे और लोटते-लोटते बेसुध हो जायेंगे।

८५७—आनन्द और उल्लास को विध्वंस करने वाली राक्षसी चिन्ता ही है।

८५८—निर्बल पुरुषों का बल क्षमा ही है और वही क्षमा बलवानों का परम भूषण है। क्षमा के द्वारा संसार वश में किया जा सकता है। संसार में ऐसा कौन-सा काम है जो क्षमा के द्वारा सिद्ध न हो सकता हो ? जिसके हाथ में क्षमारूपी शस्त्र है उसका दुर्जन क्या विगाड़ सकते हैं ?

८५९—यदि किसी के हृदय में ठीक-ठीक अनुराग पैदा हो और साधक ध्यान भजन की आवश्यकता समझने लगे, तो निश्चय

ही भगवान साधक को सद्गुरु से मिला देते हैं। साधक का सद्गुरु के लिये चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।

८६०—लज्जा, भय और घृणा इन तोन के रहते हुए ईश्वर लाभ नहीं होता।

८६१—ईश्वर दर्शन के लिये व्याकुलता अधिक नहीं। तीन ही दिन नहीं केवल २४ घंटे मन में टिकाओ कि उसका दर्शन होना ही चाहिए। अत्यन्त व्याकुल होकर ईश्वर की पुकार करो, तब देखो भला ईश्वर कैसे दर्शन नहीं देता ?

८६२—लज्ला, घृणा, भय, कुल, शील, जाति, मान, अभिमान इन अष्ट पाशों से मनुष्य जन्म से ही बंधा रहता है। इसलिए इन अष्ट पाशों को मन और शरीर दोनों से त्याग देना चाहिए।

८६३—त्याग और संयम के पूर्ण अभ्यास द्वारा मन और इन्द्रियों को वश कर लेने पर जब साधक का अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र हो जाता है तब उसका मन ही गुरु बन जाता है। फिर उसके शुद्ध मन में उत्पन्न हुई भाव-तरंगें उसे कभी भी मार्ग भूलने नहीं देतीं और उसे शीघ्र ही उसके ध्येय की ओर ले जाती हैं।

८६४—यह जगत केवल हमारी आन्तरिक कल्पना का बाह्य प्रकाश मात्र है। हमारे भीतर अनेकता है, इसलिए बाहर भी अनेकता ही दिखाई देती है।

८६५—कामिनी कांचन की आसक्ति यदि पूर्ण रूप से नष्ट हो तो देह अलग है और आत्मा अलग है ऐसा स्पष्ट रूप से दोखने लगता है।

८६६—सभी स्थानों में परमेश्वर व्याप्त है और जो कुछ होता है सो सब परमेश्वर की इच्छा से ही होता है। इस प्रकार की दृढ़ धारणा जहाँ हो गई है वहाँ क्रोध कौन करे और किस

पर करे ? कैसा भी विकट प्रसंग क्यों न हो, मन की समता कैसे विचलित हो सकती है ?

८६७—जो किसी भी विघ्न आने पर सन्मार्ग से नहीं रुकता वह अवश्य सफलता पाता है ।

८६८— बहता है पानी झर-झर,
चलती है हवा सर-सर,
उड़ते हैं पक्षी फर-फर,
लड़ती हैं फौजें मर-मर,
फिरते हैं योगी दर-दर,
होती है पूजा हर-हर ।
किसमें ?
मुझमें । मुझमें । मुझमें ।।

८६९—वेदान्त कहता है कि यह संसार एक खेल है और आप उसमें खिलाड़ी की तरह हैं । जो भी कार्य इस जीवन क्षेत्र में आपके सामने आये, उसे अपना पार्ट समझकर पूरा करो, परन्तु अपने वास्तविक स्वरूप को कभी न भूलो । जैसे नाट्यशाला में अभिनय करने वाला व्यक्ति अपनी असलियत को किसी भी राग-द्वेष के अधीन नहीं होता ।

८७०—प्रातःकाल को उठते ही "मैं यह शरीर नहीं हूं" और सब प्राणी मात्र मेरा ही आत्मा है । ऐसा समझ कर वर्ताव करना । नित्य प्रति ऐसा अभ्यास करने से यह सिद्धान्त हृदय में स्थिर होगा ।

८७१—सच्चा प्रेमी आगे-पीछे का चिन्तन नहीं करता, न किसी आशंका से भयातुर होता है और न वर्तमान परिस्थिति में प्रीति पात्र के बिना कहीं चैन लेता है ।

८७२—जैसै बालक प्रतिबिम्ब के आश्रय दर्पण की या जलाशय की ओर ध्यान नहीं देता किन्तु उनमें पड़े प्रतिबिम्ब को ही

देखता है या जैसे कि पामर लोग इस सफल स्थूल प्रपंच के आश्रय आकाश को कभी ध्यान में भी नहीं लाते, केवल इस स्थूल प्रपंच पर ही ध्यान रखते हैं वैसे ही नाम रूप के भक्त स्थूल दृष्टि के लोग अपने दुर्भाग्य के कारण सकल जगत के आधार सच्चिदानन्द जैसी पवित्र वस्तु का कभी ध्यान भी नहीं कर पाते ।

८७३—जो परम प्रभु से प्रेम करता है, उसके आगे सुन्दर पदार्थ, यश, मान, धन, ऐश्वर्य, शक्ति, सिद्धि, स्वर्ग सुख आते ही हैं । उसके इनके प्रलोभन से विचलित न होने पर विघ्न, अपयश, निर्धनता, अपमान, शक्तिहीनता और विपत्ति आदि प्रतिकूलताओं का आक्रमण होता है यही प्रीति की परीक्षा है ।

८७४—सृष्टि में जो कुछ पदार्थ हैं सो सब हमारे भीतर से आये हैं ।

८७५—यदि दुःख विपत्ति आये तो समझो ईश्वर तुम्हारे साथ खेल रहे हैं । और यही समझ कर दुःख में भी परम सुखी रहो ।

८७६—मैं स्वयं प्रयत्न से साधन भजन करके ईश्वर को अवश्य प्राप्त करूँगा ऐसा दृढ़ संकल्प करके निष्ठा के साथ तीन-चार वर्ष तक रोज कम से कम प्रातःकाल और सायंकाल प्रत्येक बार दो घंटा आसन पर बैठकर जप ध्यान करते जाओ ।

८७७—कठिनाइयों से जितना डरोगे उतना ही वे ज्यादा भय दिखाती हैं और ज़ोर पकड़ती हैं ।

८७८—उच्च कोटि का साधक भगवान को छोड़कर वह किसी से भी या किसी को भी प्रत्याशा नहीं रखता । उसे चाहे परमेश्वर का जितना रुद्र स्वरूप देखने को मिले, संसार में चाहे जितने दुःख, कष्ट, अभाव, दारिद्रय, विपत्ति, कठिनाई उसे प्राप्त हों वह किसी से भी विचलित नहीं होता ।

८७९---जगत और जीवन खेलमात्र है, ऐसी दृढ़ धारणा होने से खेल खत्म हो जाता है।

८८०—वीर भक्त कहता है कि मैं भगवान का दास होकर किससे डरूं; मेरे लिये असम्भव ही क्या है। हम तारों को चूर-चूर कर डालेंगे, त्रिभुवन को बल पूर्वक उखाड़ डालेंगे। क्या तुम हमें जानते नहीं हम श्री भगवान के दास जो हैं। जिस जगत का शासक भगवान है उसमें मैं किससे डर सकता हूं।

८८१—देश काल आपके ही भीतर है, आप देश काल के अन्तर्गत नहीं हैं।

८८२--जगत में थोड़ी बहुत खराबी है उसे अच्छा ही कहना चाहिये। क्योंकि साम्यवाद आने पर यह जगत ही नष्ट हो जायगा। साम्य और विनाश दोनों एक ही हैं।

८८३—शुभ-अशुभ सभी मेरे दास हैं, मैं उनका दास कदापि नहीं हूं। जगत मेरे लिये है, मैं जगत के लिये कदापि नहीं हूं।

८८४--जगत के सुख-दुःख के ऊपर शान्त भाव से दृष्टिपात करो। अच्छा'बुरा दोनों को एक दृष्टि से देखो। दोनों ही भगवान के खेल हैं। इसलिये अच्छा, बुरा, सुख, दुःख सभी में आनन्द का अनुभव करो।

८८५—जब कोई भी विषय तुम्हें विचलित नहीं कर सकेगा तभी समझो कि तुमने मुक्ति या स्वाधीनता प्राप्त कर ली।

८८६—पहले अपने को जीत लो फिर सम्पूर्ण जगत तुम्हारे पैरों के नीचे आ जायगा।

८८७—लोग जब तुम्हारी बुराई करते हैं तो तुम उन्हें आशीर्वाद दो। ऐसे स्थान पर जाओ जहाँ लोग तुम से घृणा करें।

८८८—शास्त्र तो सब हमारे ही भीतर हैं। धैर्यहीन व्यक्ति कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता।

८८९—हमारे भीतर जो नहीं है बाहर भी हम उसे नहीं देख सकते।

८९०—ब्रह्मदृष्टि को छोड़कर अन्य किसी भाव से किसी वस्तु को मत देखो। यदि ऐसा करोगे तो अन्याय और बुरा ही देखने में आयेगा।

८९१—जब तक तुम्हारे ऊपर कोई भी तुमसे भिन्न यहां तक कि ईश्वर भी यदि रहेगा तब तक अभय अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। हमें वही ईश्वर या ब्रह्म हो जाना होगा।

८९२—जिस किसी वस्तु में तुम शक्ति का विकास देखते हो, वह शक्ति तुम्हारी दी हुई है।

८९३—'खराब' शब्द वाच्य कुछ है यह स्वीकार मत करो जो नहीं है उसकी सृष्टि अपनी ओर मत करो।

८९४—सर्वदा कहो "मैं प्रभु हूं" मैं सभी का प्रभु हूं। हमी ने अपनी श्रृंखला गढ़ी है और हमी इसे तोड़ सकते हैं।

८९५—भेद वस्तुओं के स्वरूप में नहीं रहता वह तो हमारे मस्तिष्क में रहता है। बाहर तो एक अखंड वस्तु ही है, भेद केवल भीतर ही है। हमारे मन में भेद रहता है अतएव बहुत्व का ज्ञान मन की सृष्टि ही है।

८९६—तुम तो मुक्त हो, पहले से ही मुक्त हो, सर्वदा कहो : मैं सदा आनन्द स्वरूप हूं, मैं मुक्त स्वभाव हूं, मैं अनन्त स्वरूप हूं, मेरी आत्मा का आदि अन्त नहीं है। सभी मेरे आत्म स्वरूप हैं।

८९७—देह और मन कार्य करते हैं। मैं कुछ नहीं करता। सर्वदा अपने को इस प्रकार समझाते रहो और इस बात को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करो जिससे तुम्हें ऐसा ज्ञान न हो जाय कि तुम कुछ कर रहे हो।

८९८—लोग तुम्हारे प्रति चाहे जैसा व्यवहार करें किन्तु तुम्हारा किसी के भी प्रति प्रेम घटना न चाहिये।

८९९—जब हम में दोष नहीं है तो हम दूसरे का दोष देखेंगे कैसे ? यदि हम स्वयं पवित्र हैं तो हमें बाहर अपवित्रता नहीं दिखाई देगी। बाहर अपवित्रता हो सकती है किन्तु हमारे लिये उसका अस्तित्व नहीं होगा।

९००—किसी व्यक्ति से विशेष भाव से प्रेम करना बन्धन है। सभी से समान रूप से प्रेम करो तब तुम्हारी सभी वासनायें विलीन हो जायंगी।

९०१—जब हम कुछ भी बुराई नहीं देख पायेंगे, तब हमारे लिये जगत-प्रपंच भी नहीं होगा।

यह जगत-प्रपंच वही शुद्ध-बुद्ध स्वरूप ब्रह्म मात्र है। ब्रह्म छोड़ कर और कुछ भी नहीं है। यह मत कहो कि योग के द्वारा विशुद्धि प्राप्त होगी। तुम स्वयं शुद्ध स्वभाव हो। तुम्हें कोई भी शिक्षा नहीं दे सकता।

९०२—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये त्रिविध बन्धन जब दूर हो जाते हैं तभी आत्मस्वरूप का प्रकाश होता है। जब बन्धन और मुक्ति रूप भ्रम हट जाते हैं तभी आत्मस्वरूप का प्रकाश होता है।

९०३—मन संयम करो तो क्या और न करो तो भी क्या ? तुम्हारा धन रहे तो क्या न रहे तो भी क्या ? तुम तो नित्य शुद्ध आत्मा हो। किसी प्रकार का बन्धन तुम्हारे पास नहीं आ सकता। तुम अपरिणामी निर्मल आकाश रूप हो।

९०४—धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य दोनों ही दग्ध कर डालो। मुक्ति तो बच्चों की कहानी मात्र है।

९०५—न कोई कभी बंध हुआ है न कोई कभी मुक्त। मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। मैं अनन्त स्वरूप और नित्य

मुक्त स्वभाव हूं, कौन मेरे स्वभाव को बदल सकता है ? गुरु भी कौन है ? शिष्य भी कौन है ?

९०६—तर्क, युक्ति, ज्ञान, विचार को गड्ढे में फेंक दो। बंध स्वभाव मनुष्य ही दूसरों को बंध देखता है, भ्रान्त व्यक्ति ही दूसरों को भ्रान्त देखता है, अशुद्ध स्वभाव व्यक्ति ही दूसरों को अशुद्ध देखता है।

९०७—तुम सोचते हो कि मैं बंध हूं, मुक्त होऊंगा यह तुम्हारा रोग है। तुम अपरिणामी हो। बातें करना छोड़ दो, चुप होकर बैठे रहो। सभी वस्तुएं तुम्हारे सामने से उड़ जायं, ये सब स्वप्न मात्र हैं। पार्थक्य या भेद नामक कोई वस्तु नहीं है, वह सब कुसंस्कार मात्र है अतएव मौन भाव का अवलम्बन करो और अपना स्वरूप पहचानो।

९०८—तुम आनन्दघन स्वरूप हो। किसी आदर्श का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं। तुम्हें छोड़कर और दूसरा है ही क्या ? किसी से भय मत करना। तुम सार स्वरूप हो। शांति से रहो। अपने को चंचल मत करो। तुम कभी बंध नहीं हुए हो। पुण्य-पाप तुम्हें स्पर्श नहीं करता। इन सभी भ्रमों को दूर कर दो और शान्ति में रहो।

९०९—किस की उपासना करोगे ? उपासना भी कौन करेगा ? सभी तो आतमा हैं। कोई बात कहना या किसी तरह की चिन्ता करना कुसंस्कार है। बारम्बार बोलो मैं आत्मा हूं, मैं आत्मा हूं। शेष सब उड़ जाने दो।

९१०—सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने पर तुम देख पाओगे कि किसी भी वस्तु में न किसी प्रकार की गति है न किसी प्रकार का परिणाम। हम लोगों की यह धारणा ही माया है कि "किसी प्रकार की गति या परिणाम है"।

६११—जब तुम इस जगत प्रपंच को नहीं देख पाओगे या नहीं जान सकोगे तभी तुम्हें आत्मोपलब्धि होगी।

६१२—तुम्हारे भीतर जो दोष राशि है उसे दूर कर डालो। ऐसा करने पर तुम बाहर के दोषों को फिर नहीं देख पाओगे।

६१३—तुम्हें जिस किसी वस्तु का अभाव बोध होता है उसकी सृष्टि तुम्हीं करते हो—वासना मुक्त हो जाओ।

६१४—भूत या भविष्य में न कोई तुम्हारी अपेक्षा श्रेष्ठ ईश्वर था न है, न होगा। तुम्हीं वह अनन्त समुद्र हो। ईसा, बुद्ध, प्रभृति, तुम्हारी तरंगें मात्र हैं।

६१५—हमारे भीतर जो ज्ञान ज्योति वर्तमान है, शास्त्र उसकी ओर केवल संकेत करते हैं और उसकी अभिव्यक्ति करने का उपाय बतला देते हैं। किन्तु, जब हम स्वयं उस ज्ञान का लाभ करते हैं तभी हम शास्त्र को ठीक-ठीक समझ पाते हैं। जब तुम्हारे भीतर उस अन्तर्ज्योति का प्रकाश है तो फिर शास्त्र का क्या प्रयोजन ? तुम केवल अन्तर की ओर दृष्टिपात करो। सम्पूर्ण शास्त्र में जो है तुम्हारे अपने भीतर में वही है, वरन उसकी अपेक्षा हजार गुना अधिक है।

६१६—तुम अपने ऊपर अविश्वास कभी मत करो। तुम इस जगत में सब कुछ कर सकते हो। कभी भी अपने को दुर्बल मत समझो। सभी शक्तियां तुम्हारे भीतर विद्यमान हैं।

६१७—कोई गुरु या कोई शास्त्र हमें उसकी प्राप्ति में सहायता मात्र दे सकते हैं, इसके अतिरिक्त वे और कुछ भी नहीं कर सकते, और तो क्या इनकी सहायता के बिना भी हम अपने भीतर में ही सभी सत्यों का लाभ कर सकते हैं तथापि शास्त्र और आचार्य गणों के प्रति कृतज्ञ रहो।

६१८—हम उसे बुद्ध, ईसा, कृष्ण, जिहोवा, अल्ला अथवा अग्नि चाहे किसी नाम से पुकार सकते हैं, किन्तु वास्तव में वह हमारी ही आत्मा है।

६१९—जगत में जितने बाइबिल, ईसा या बुद्ध हुए हैं, सभी हमारी ज्योति से ज्योतिष्मान हैं। इस ज्योति को छोड़ देने पर ये सब हमारे लिये और अधिक जीवित नहीं रह सकेंगे, मर जायेंगे।

६२०—मृतक शरीर के साथ चाहे जैसा व्यवहार क्यों न करो, उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। हमें अपने शरीर को इसी प्रकार मृतवत् करके रखना होगा।

६२१—जब तुम केवल ब्रह्म को ही देखोगे तब फिर किसका उपकार कर सकोगे ? भगवान का तो उपकार कर नहीं सकते ? उसी समय सभी संशय नष्ट हो जाते हैं, सर्वत्र समत्व भाव आ जाता है। तब यदि किसी का कल्याण करते हो तो स्वयं अपना ही करते हो।

६२२—राजा के समान बनो, समझ रक्खो, समग्र जगत हमारा है।

६२३—तुमने अच्छा-बुरा जो कुछ भी किया है, उसके सम्बन्ध में सोचना बिल्कुल बन्द कर दो।

६२४—हम जो कुछ जानते हैं, सब आत्मा ही का वही—प्रसारण है, विस्तार स्वरूप है।

६२५—हम जब सर्वत्र एकत्व का दर्शन करते हैं तब हमारे शरीर की भी मृत्यु नहीं होती और न मन ही की। जगत के सभी शरीर हमारे शरीर हैं अतएव हमारा शरीर भी नित्य है।

६२६—कोई भी व्यक्ति ब्रह्मविद की कुछ भी सहायता करने में समर्थ नहीं हो सकता। समग्र प्रपंच ही उसके सामने प्रणत रहता है।

९२७—ईश्वर को अवश्य प्राप्त करूंगा। केवल उसी को चाहता हूं। यह कह कर दृढ़ भाव से खड़े हो जाओ। संसार को उड़ जाने दो। ईश्वर और संसार इन दोनों के बीच किसी प्रकार का समझौता मत करो।

९२८—यदि सत्य समस्त जगत का ध्वंस करता है तो भी सत्य ही है। इस सत्य को पकड़े ही रहो।

९२९—अच्छा और बुरा ये दोनों अछेद्य भाव से जड़ित हैं। एक को लेने पर दूसरे को लेना ही होगा।

९३०—कभी भी यह मत सोचो कि तुम जगत को अच्छा और सुखी बना सकते हो।

९३१—नानात्व दर्शन ही जगत में सबसे बड़ा पाप है। सभी को आत्मा-रूप में देखो तथा सभी से प्रेम करो। भेद-भाव को पूर्ण रूप से दूर कर दो।

९३२—सब चोर और खूनी, सब अन्यायी और पतित, सब बदमाश और राक्षस मेरे लिये ईश्वर हैं। देव रूपी ईश्वर तथा दानव रूपी ईश्वर दोनों ही मेरे लिये आराध्य हैं। ये सभी मेरे गुरु हैं।

९३३—यदि बुद्धि और शुद्ध हृदय में विरोध हो तो तुम अपने शुद्ध हृदय का ही अनुसरण करो, भले ही तुम्हें हृदय का कथन तर्क विरुद्ध मालूम हो। जब हृदय परोपकार करने की इच्छा करे तो बुद्धि तुम्हें बतला सकती है कि ऐसा करना अविचार है। लेकिन तुम हृदय की सुनो और इससे तुम देखोगे कि बुद्धि की सुनकर तुम जितनी गलतियां करते थे उससे कम गलतियां करोगे। शुद्ध हृदय ही सत्य के प्रतिबिम्ब के लिये सर्वोत्तम दर्पण है।

९३४—अगर मनुष्य को यहां से वहां तक एक ही सत्ता का ज्ञान हो तो फिर भय कहाँ से आ सकता है ? जब सर्वत्र एक ही सत्ता है तो फिर डर कहाँ से आ सकता है ?

६३५—अगर मेरे सिर पर वज्रपात हो जाय, तो वह वज्र भी तो मैं ही हूं, क्योंकि विश्व में केवल मैं ही मैं विद्यमान हूं। अगर प्लेग आये तो वह भी मैं ही हूं और अगर शेर आये तो वह भी मैं ही हूं, अगर मृत्यु आये तो वह भी मैं ही हूं, मृत्यु और जीवन दोनों मैं ही हूं।

६३६—जब हमें यह बोध होता है कि दुनियां में द्वैत है तो डर पैदा हो जाता है।

६३७—मैं कैसे मर सकता हूं ? मेरे सिवाय तो कुछ है ही नहीं। इस विचार से जब भय का अंत हो जाता है। तभी पूर्ण आनन्द व सच्चे प्रेम की प्राप्ति होती है।

६३८—मुझे कभी न संशय था, न भय। मृत्यु मुझे कभी छू न पाई। मेरे पिता-माता कहां ? मैं तो अजन्मा हूं, मैं ही सब कुछ हूं, फिर मेरा शत्रु कौन ? मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूं। 'सोऽहम्, सोऽहम्'। काम, क्रोध, ईर्ष्या, कुविचार आदि ने मुझे कभी स्पर्श नहीं किया। क्योंकि मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप हूं। सब दु:खों पर यह एक अमोघ उपाय है। यही वह अमृत है जो मृत्यु को जीत लेता है।

६३९—मुझे न भय है, न संशय, न मृत्यु। मैं जाति वर्ण सबके अतीत हूं। कौन-सा पथ मुझे अपना सकता है ? सब पथों में मैं अनस्यूत् हूं।

६४०—अनेकों बार मैं मृत्यु के मुख में पड़ा हूं। क्षुधातुर रहा हूं, पैर फटे हैं और थकावट आई है, लगातार कई दिनों तक मुझे अन्न नहीं मिला और अकसर मैं एक पग भी न चल सकता था। मैं पेड़ के नीचे बैठ जाता और ऐसा मालूम होता था कि अब प्राण निकले, बोलना मुझे कठिन हो जाता था और मैं विचार तक न कर सकता था। अंत में मेरा मन इस विचार पर लौट आया, मुझे डर कहाँ, मैं कैसे मर सकता हूं ? मुझे न कभी

भूख लगती है न प्यास। मैं तो वही हूं। यह सम्पूर्ण विश्व मुझे कुचल नहीं सकता, वह तो मेरा दास है। ऐ परमेश्वर ! ऐ देवों के देव ! तू अपनी हुकूमत चला और हाथ से गया हुआ साम्राज्य फिर से प्राप्त कर। उठ खड़ा हो, चल और बीच में ठहरना मत। ऐसा विचार आने पर मैं नव चैतन्य पा उठ खड़ा होता। इस तरह जब-जब अन्धकार का आक्रमण हो, तो अपनी आत्मा की हुकूमत चलाओ और जो कुछ प्रतिकूल है नष्ट हो जायगा, क्योंकि आखिर यह सब स्वप्न ही है।

९४१—आपत्तियां पर्वत जैसी भले ही हों, सब कुछ भयावह और अन्धकारपूर्ण भले ही दीखे, पर जान लो सब माया है। डरो मत, वह भाग जायगी। इसे कुचलो, और लुप्त हो जायगी। इसे ठुकराओ और यह मर जाती है। डरो मत, कितनी बार असफलता मिलेगी, यह न सोचो, चिन्ता न करो। काल अनन्त है। आगे बढ़ो, पुनः पुनः हुकूमत चलाओ प्रकाश अवश्य ही आवेगा।

९४२—तुम चाहे किसी की भी प्रार्थना करो, पर कौन आकर तुम्हें सहायता देगा जिसने स्वयं मृत्यु से छुटकारा नहीं पाया, उससे तुम किस प्रकार सहायता की आशा कर सकते हो ? स्वयं ही अपना उद्धार करो, दूसरा कोई तुम्हें मदद नहीं पहुंचायेगा। तो फिर आत्मा का आश्रय लो। उठ खड़े हो, डरो मत।

९४३—दुर्बलता के कारण ही मनुष्य पर सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख आते हैं। दुर्बलता ही मृत्यु है।

९४४—करोड़ों दुःखरूपी कीटाणु तुम्हारे आस-पास क्यों न घूमते रहें, पर कुछ चिन्ता न करो। जब तक तुम्हारा मन कमजोर नहीं होता तब तक उनकी हिम्मत नहीं कि वे तुम पर

हमला करें। यह एक बढ़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण।

९४५—चाहे हमें प्रत्येक कार्य में असफलता मिले, हमारे टुकड़े-टुकड़े हो जायं और खून की धार बहने लगे फिर भी हमें अपना हृदय थाम कर रखना होगा। इन आपत्तियों में ही अपने ईश्वरत्व की घोषणा करनी होगी।

९४६—चाहे हम चीर डाले जायं और हमारे चीथड़े-चीथड़े कर दिये जायं, पर हमारा हृदय सर्वदा अधिकाधिक उदार ही होता जाना चाहिये।

९४७—यदि तुम सचमुच निःस्वार्थी हो तो तुम परमेम्वर के समान हो। फिर कौन-सी दुनिया तुम्हें चोट पहुंचा सकती है? सातवें नरक में से भी बिना झुलसे, बिना स्पर्श हुए निकल जाओगे।

९४८—किसी को चोर कहो और वह चोरी करने लगेगा यह एक निर्विवाद सच्चाई है।

९४९—मैं स्थूल जगत के स्तर पर भी उस परमात्मा का अनुभव करता हूं कि "मैं ही सबकी शासक आतमा हूं।"

९५०—जब हम सबसे अभेद होते हैं तब धोखेबाज हमारे पास आने का साहस नहीं कर सकते।

९५१—अपने अनुभव की सहायता के बिना कोई मनुष्य कदापि हृदय से शुद्ध नहीं हो सका।

९५२—रात भी उतनी प्यारी है जितना दिन, मृत्यु उतनी ही मधुर है जितना जीवन, ज्वर भी उतना ही अभिनन्दनीय है जितना स्वास्थ्य, शत्रु उतने ही प्यारे हैं जितने मित्र।

९५३—जब तक तुम सबको अपना आप भान न करोगे, तब तक तुम सबको जान नहीं सकते। वास्तविक तथ्य में गोता लगाना, नामों और रूपों के नीचे की थाह लेना, वनों और

उपवनों में, पहाड़ों और नदियों में, दिन और रात में, मेघों और नक्षत्रों में आजादी से विचरना, पुरुषों और नारियों में, पशुओं और फरिस्तों में, हर एक की और सबकी आत्मा में निर्द्वन्द्व होकर विचरना यही जीवन है, यही आत्मज्ञान है, और सच्ची बुद्धिमानी है।

९५४—ऐसी कौन सी चीज है जो तुम्हारी प्रफुल्लता को नष्ट कर देती है ? वह है दूसरों का अस्तित्व। प्रत्येक एक दम निराला होना चाहता है। हर एक व्यक्ति एक अद्वितीय, द्वैत-हीन होना चाहता है।

९५५—सारा संसार तुम्हारे भीतर है। जैसे तुम स्वप्न में यह सोचने लगते हो कि तुम कहीं जंगलों में, पहाड़ों में, नदी के तट पर विचरण कर रहे हो, जो तुमसे बाहर है। किन्तु, यह सब तमाशा सचमुच होता तो है तुम्हारे ही भीतर। यदि वे सचमुच बाहर होते, तो कमरा ही उनके बोझ से दब जाता, तुम्हारी चारपाई पानी में बह जाती। इसी प्रकार वेदान्त तुम्हें बतलाता है कि सारा संसार तुम्हारे भीतर है, सारा भौतिक और मानसिक जगत तुम्हारे अन्दर अवस्थित है और तुम उल्टे सोचते हो कि तुम उसमें रहते हो।

९५६—यदि कोई मनुष्य पांच दिन, उतना क्यों पांच मिनट भी विना भविष्य का चिन्तन किये, बिना स्वर्ग, नरक या अन्य किसी के सम्बन्ध में सोचे निःस्वार्थता से काम कर सके तो वह एक महापुरुष बन सकता है।

९५७—यदि तुम किसी की ओर होने वाली अपनी प्रशंसा में हर्षित और निन्दा से खिन्न व दुःखी होते रहते हो तो तुम परावलम्बन ही ले रहे हो। अतः अपनी स्तुति निन्दा को सुनकर धूल की तरह झाड़ दो।

९५८—परावलम्बी होने की अपेक्षा स्वावलम्बी होना और स्वावलम्बी होकर सत्यावलम्बी होना पुरुषार्थ की सिद्धि है।

९५९—अपना केन्द्र, अपने से बाहर मत रखो, यह आपका पतन कर देगा। अपने में अपना पूर्ण विश्वास रखो। अपने केन्द्र पर डटे रहो। कोई चीज तुम्हें हिला तक न सकेगी।

९६०—श्रवण, मनन और निदिध्यासन से जब यह निश्चय हो चुका कि सब कुछ परमात्मा ही है तब यह भला है, यह बुरा है, इस प्रकार की दृष्टि ही क्यों होती है ? यह भला है, इस प्रकार की दृष्टि तो यथा कथाचित क्षम्य भी है, परन्तु बुरे की कल्पना तो सर्वथा विपर्यय है। यदि सर्वथा समत्व न रहे, वैषम्य हो ही जाय तो अपनी दृष्टि भले पर ही जानी चाहिये। भले-बुरे की भावना और सत्ता को दृढ़ करने की क्या आवश्यकता ? उन्हें तो शिथिल करना चाहिये। यदि प्रतीत होता है भला-बुरा तो वह लीला विलास ही है। नाटक मात्र है। नाटक के भीम और दुर्योधन दोनों ही मनोरंजन के लिये हैं। नाटक की मृत्यु, रोग और उत्पीड़न रसानुभूति के लिये है। अद्‌भुत, रौद्र, भयानक और वीभत्स भी तो रस ही हैं। तब इन को देख कर क्षुब्ध होने का क्या कारण है।

९६१—अपमान तो तुम्हारी आत्मा की ज्योति को जाग्रत करने वाला है। तुम्हारी विस्मृति को नष्ट करके स्मृति को ताजा बनाने वाला है। अपमान क्षोभ का नहीं, प्रसाद का जनक है। अपमान होते ही प्रसन्नता से खिल उठना चाहिये कि मेरी स्मृति ताजा करने के लिये साक्षात भगवान स्वयं आये हैं, महान सौभाग्य है।

९६२—व्यावहारिक जगत एक नाटक है और मैं उसका पात्र तथा द्रष्टा हूं। भला-बुरा कुछ नहीं सब लीला है।

९६३—परिपूर्णत्तम परब्रह्म परमात्मा में द्वैत नाम की कोई वस्तु ही नहीं है फिर कौन किसका अभिमान करे।

९६४—एक ही जड़सत्ता दो रूपों को धारण किये हुए है। वही विषय है और वही इन्द्रिय है। विषय-गत रूप और नेत्र-गत रूप में कोई भेद नहीं है। ऐसी अवस्था में मन स्वतंत्र विषयों की सृष्टि करने लगता है। साधारणतः अनुभूयमान प्रपंच से विलक्षण गंध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द की संवित होने लगती है। अनेकों प्रकार के दिव्य दृश्य चित्र, विचित्र अनुभूतियाँ, देवता, दानव, स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि के दर्शन होने लगते हैं। यह सब मन के ही आकार विशेष हैं। शास्त्र, सम्प्रदाय, मत, पंथ, व्यक्तिगत जानकारी, मान्यता एवं भावनायें जो बुद्धि में संस्कार रूप से निहित रहती हैं उदय होकर एक जाल सा बिछा देती है और साधक को उन्हीं में नित्य बुद्धि उत्पन्न करा कर फंसा देती हैं। इस अवस्था में साधक ऐसा समझने लगता है कि अब मेरा प्रवेश दिव्य राज्य में हो गया है और मैं भगवत् सत्ता एवं भगवत्लीला का अनुभव कर रहा हूं यह भी भ्रम है। जहाँ तक नाम और आकृतियों का भेद है वहां तक वास्तविक सत्ता का अनुभव नहीं है। इसका निरोध आवश्यक है। तत्पश्चात् एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है, इस आनन्द की वृत्ति भी शान्त हो जाती है, तब अस्मिता मात्र शेष रह जाती है। इस अवस्था में ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि अस्मिता से लेकर विषय पर्यन्त एक ही प्रकृति की जड़ सत्ता का विलास है। मैं तो केवल द्रष्ट मात्र हूं। मैं अकर्ता, अभोक्ता अर्थात् मैं नित्य ब्रह्मचारी हूं यह अनुभूति भी वास्तविक नहीं है। इस में भी संस्कार शेष विद्यमान रहते हैं। विषय-गत भेद के संस्कार ईश्वर के सम्बन्ध में अन्यत्व की कल्पना और द्रष्टा की अनेक होने की भ्रान्ति इस अवस्था में विद्यमान होते हैं। कोई भी अभ्यास जन्य

समाधि चाहे उसका नाम कुछ भी क्यों न रख लिया जाय अज्ञान की निवृत्ति करने में समर्थ नहीं है। उसकी निवृत्तियां तत्वमस्यादि महाकाव्य जन्य वृत्ति ज्ञान से ही होती है। समाधि के द्वारा अन्तःकरण के समस्त संस्कार अथवा अशुद्धियों के धुल जाने पर स्वतः सिद्ध निरुपद्रव पूर्ण बोधात्मक अखंड चिति ही शेष रह जाती है और वही आत्मा का, ईश्वर का और जगत् का भी स्वरूप है। ब्रह्मचर्य का वास्तविक स्वरूप वही है। इस पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्राप्ति समस्त साधन वेद शास्त्र आदि का लक्ष्य है।

९६५—सहज स्थिति-समाधि हो चाहे विक्षेप ब्रह्मचारी की सहज स्थिति भंग नहीं होती। उसके लिये प्रवृत्ति निवृत्ति सम है। उसके अपने स्वरूप से भिन्न द्रष्टा, दर्शन दृश्य कुछ भी नहीं है।

९६६—विषय की सत्ता इन्द्रियों से, इन्द्रियों की सत्ता मन से, मन की बुद्धि से और बुद्धि की ज्ञानस्वरूप आत्मा से निश्चित होती है। अज्ञान का अनुभव भी ज्ञान ही है।

९६७—प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय की त्रिपुटी ज्ञान के द्वारा ही प्रकाशित होती है। इस त्रिपुटी के भाव और अभाव का प्रकाशक ज्ञान ही है।

९६८ जगत् की परस्पर विरुद्ध घटनाओं से मेरे चित्त में कभी किसी प्रकार का क्षोभ अथवा विकार नहीं होता। मैं प्रत्येक अवस्था में ही अपनी मुक्ति को जानता और अनुभव करता हूं।

९६९—इन्द्रियों को और विषयों को जो हैं ही नहीं, अपना समझ रहा था, कैसी मूर्खता थी।

९७०—हे इन्द्रियो ! हे चित्त ! तुम्हें तुम्हारी मूढ़ता और तुम्हारा मिथ्यात्व मालूम हो गया है।

९७१—ये जो संसार के भय हैं, ये तो वासनामूलक अतएव निर्मूल हैं क्योंकि वासनाओं से मेरा कोई सम्धन्घ नहीं है। वासनाओं का दादा अज्ञान भी मेरा स्पर्श नहीं कर सकता। अज्ञान और उसके बाल-बच्चे (अहंकार से लेकर विपय पर्यन्त) रहें या न रहें। मैं निर्लिप्त आत्मा हूं। क्या जन्म और मृत्यु मेरा स्पर्श कर सकते हैं ?

९७२—जहां एक ही वस्तु है, अपनी ही है, अपने सिवाय और कोई नहीं है, वहां निन्दा किसकी ? भय किसका ? तो भी जो निन्दा करते हैं वे अपने स्वरूप को न जानकर ही करते हैं। जैसे कोई मनुष्य किसी भ्रम के कारण अपने ही हाथ को सर्प जान कर डरने लगे। जहां मन होता है वहां दुःख-सुख का भान होता है। जाग्रत-स्वप्न में मन उपस्थित रहता है। इसलिये क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म भोग दीख पड़ते हैं। जब सुषुप्ति अवस्था में मन लीन हो जाता है तब वहां सुख-दुःख का भोग भी नहीं दीखता। इस प्रकार सुख-दुःख रूपी कर्म फल का भोगने वाला मन ही है। जैसे दर्पण में अनेक पदर्थ दीखते हैं, परन्तु दर्पण में दीखने वाले पदार्थ दर्पण को छोड़कर उससे भिन्न पदार्थ नहीं होते, इसी प्रकार मैं आदर्श स्वरूप हूं। माया की कल्पना से किये हुए विविध प्रकार के माया के चित्र मुझ में दीखते हैं। जैसे बाहर के चित्रों का कोई भी चिन्ह आदर्श में आकर नहीं टिकता। इसी प्रकार अनंत प्रपंच दीखते हुए भी मुझमें नहीं टिकते। क्योंकि दिखाव मात्र है और जिसमें दीखते हैं वह आतमस्वरूप आदर्श के समान है।

९७३—उस भाग्यशाली साधक का अभ्यास सफलतापूर्वक चल रहा है, यह कैसे जाने ? यदि उसकी भोगवासना दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जा रही हो तो समझना चाहिये कि अभ्यास ठीक हो रहा है।

९७४—मैं ही मैं को देख रहा था, मैं ही मैं को सुन रहा था,

मैं ही मैं को स्पर्श कर रहा था, मैं ही मैं का स्वाद ले रहा था, मैं ही मैं की गन्ध ले रहा था, मेरे सिवाय कुछ नहीं था। केवल मैं ही मैं हूं। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

९७५—एकान्त स्थान में सुखपूर्वक बैठकर परमात्मा में चित्त को स्थिर करके इस सब जगत् को मिथ्या समझकर ब्रह्ममय देखो।

९७६—यह जगत्, जीव और ईश्वर सब मन की कल्पना है। एक बार उस कल्पना को छोड़कर निर्वाण पद का अनुभव करो।

९७७—द्वैत और अद्वैत तेरा ही संकल्प है, उसको छोड़ शेष तू ही है।

९७८—जो भला-बुरा मानता है, उच्च-नीच भी विचारता है और मुख से सब ब्रह्म है ऐसा बकवाद करता है और नंगा डोलकर अपने अवधूत होने का प्रदर्शन करता है, वह भ्रष्ट है।

९७९—जो समस्त विहित और निषिद्ध कर्मों का त्याग नहीं कर सकता और उनके समर्थन करने के लिये कहता है कि श्रुत्ति ने भी मेरा पार नहीं पाया ऐसी हास्यस्पद अवस्था को प्राप्त हुआ मनुष्य भ्रष्ट है।

९८०—बड़ा बुद्धिमान बनकर यह सब आत्मा ही है ऐसा कहने लगता है परन्तु किसी की बुरी बात तो सही नहीं जाती और अपनी स्तुति सुनने के लिये दौड़ता फिरता है और सुनकर प्रसन्न भी होता है ऐसा पुरुष भ्रष्ट नहीं तो क्या है।

९८१—धारणा की दृढ़ता और उद्देश्य की पवित्रता ये दोनों मिलकर अवश्य बाजी मार ले जायंगे और यदि एक मुट्ठी भर लोग इन दो शस्त्रों से सुसज्जित रहे तो वे निश्चित ही समस्त विघ्न बाधाओं का सामना कर अन्त में विजय प्राप्त कर लेंगे।

९८२—मुझ ही में सारा संसार रहता-सहता, चलता-फिरता और जीवित रहता है। सर्वत्र मेरी ही इच्छा पूरी हो रही है।

९८३—मेरे लिये प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है। बंधन, परिछिन्नता और दोष मेरी दृष्टि में आते ही नहीं। मुक्त, परम मुक्त मैं हूं और दूसरे लोग भी स्वतन्त्र हैं।

९८४—कहाँ है वह तलवार जो मुझे मार सके? कहाँ है वह शस्त्र जो मुझे घायल कर सके? कहाँ है वह विपत्ति जो मेरी प्रसन्नता को बिगाड़ सके? कहाँ है वह दुःख जो मेरे सुख में बाधा डाले? मेरे सब भय भाग गये, सब शंकायें मेरी कट गईं। मेरी विजय प्राप्ति का दिन आ पहुंचा। कोई सांसारिक लहर मेरे निश्चल चित्त को आन्दोलित नहीं कर सकती। इन लहरों से मुझे न कोई लाभ है न कोई हानि। मुझे शत्रु से भय नहीं, मुझे मित्र से घृणा नहीं, मुझे मौत का डर नहीं, मुझे नाश का भय नहीं।

९८५—यह सारी सृष्टि मंगलमय मालूम होनी चाहिए। साम्य दृष्टि आनी चाहिए। जैसे मुझे खुद अपने आप पर विश्वास है, वैसा ही सारी सृष्टि पर मेरा विश्वास होना चाहिए। यहाँ डरने की बात ही क्या है? सब कुछ शुद्ध और पवित्र है। यह विश्व मंगलमय है क्योंकि परमेश्वर उसकी देख-भाल करता है। संसार में कुछ भी बिगाड़ नहीं है। अगर बिगाड़ कहीं है तो वह मेरी दृष्टि में। जैसी मेरी दृष्टि वैसी सृष्टि।

९८६—यदि हमारे मन को इस बात का निश्चय न हो कि यह सृष्टि शुभ है तो चित्त की एकाग्रता नहीं हो सकती। जब तक मैं यह समझता रहूंगा कि सृष्टि बिगड़ी हुई है तब तक मैं सशंक दृष्टि से चारों ओर देखता रहूंगा।

९८७—आप सर्वत्र मंगलमय देखने लग जाइये चित्त अपने आप शान्त हो जायेगा।

९८८—विश्वास रखो कि परमेश्वर हमारा रक्षक है फिर डर किसका?

९८९—अतः संसार के बड़े-बड़े नाम और चित्ताकर्षक रूप तथा कर्तव्य मूढ़ता में डालने वाली भाँति-भाँति की वस्तुयें इस एक ही धन सुषुप्ति का पसारा है। भयानक द्वैत केवल स्वप्न मात्र है।

९९०—जब तुम किसी सूक्ष्म विषय की छान-बीन में मग्न होते हो तो यद्यपि आँखें खुली हों सामने से चाहे जो निकल जाय दिखाई नहीं देता, कान बन्द न हों पर हल्ला-गुल्ला सुनाई नहीं देता, कारण यही कि तुमने उस ओर ध्यान नहीं दिया तुम्हारी ओर से 'अस्तु' नहीं बोला गया। यदि रूप और शब्द तुमसे अलग कुछ अस्तित्व रखते हों तो आँखें जो खुली थीं और कान भी जो खुले थे दिखाई क्यों न दिये ? सुनाई क्यों नहीं दिये ?

९९१—तेरे अस्तित्व के सिवाय कुछ भी विद्यमान नहीं है चाहे तू इस बात को अंगीकार कर चाहे न कर।

९९२—यदि तुझे अपना प्रकाश स्वरूप दिखाई नहीं देता तो भी तेरा है और आरसी में दिखाई दे तो भी तेरा है। यदि स्वप्न में रुचिकर और चित्ताकर्षक घटनायें उपस्थित हैं तो तेरे विचार और यदि महाभयावने रूप विद्यमान हैं तो तेरी करतूत है। वैसे ही संसार में चाहे मन भावती घटनायें हों चाहे विपत्तियाँ और आफतें हों, सब तेरी बनाई हुई हैं।

९९३—मुझे भला कौन मार सकता है ? किस की सामर्थ्य है जो मुझे भयभीत कर सके मैं तो अजन्मा और अविनाशी आत्मा हूं। मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

९९४—तुम विचारपूर्वक सर्वथा अचिन्त्य तथा अभय रहने का अभ्यास बढ़ाओ और निरन्तर सावधान रहकर अहं में आत्मा और आत्मा में अहं को देखो, यही ज्ञान की सत्य उपासना है।

९९५—यदि खूनी हाथ तुम्हारी गर्दन पकड़ ले तो कहो "मैं साक्षी हूं। मैं साक्षी हूं। कहो मैं आत्मा हूं। कोई भी बाहरी वस्तु मुझे स्पर्श नहीं कर सकती।" यदि मन में बुरे विचार उठें तो बार-बार यही दुहराओ, यह कहकर उनके सिर पर हथौड़े की चोट करो कि "मैं आत्मा हूं। मैं साक्षी हूं। मैं नित्य शुभ और कल्याण स्वरूप हूं। कोई कारण नहीं है कि मैं कर्म करूं, कोई कारण नहीं जो मैं भुगतूं, मेरे सब कर्मों का अन्त हो चुका है।"

९९६—पहले यह विश्वास करना कि "मैं आत्मा हूं, मुझे तलवार नहीं काट सकती, शस्त्र छेद नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, वायु सुखा नहीं सकती, मैं सर्वशक्तिमान हूं, मैं सर्वदर्शी हूं।"

९९७—ईश्वर को ही सर्वाधार समझ कर जो कुछ भी प्रारब्ध में देखना पड़े हर दशा में निर्भय, सन्तुष्ट तथा प्रसन्न रहोगे। जब तुम अपने में कर्म करने की शक्ति और प्रत्येक कर्म की सिद्धि के परम आश्रय एक परमेश्वर को ही समझोगे तभी भक्ति प्राप्त कर सकोगे।

९९८—जब हम अपनी आत्मा में विश्वास करते हैं और आत्मा के अतिरिक्त और किसी चीज में विश्वास नहीं करते तब सब सम्पदायें हमारे पास आती हैं।

९९९—प्रकाशों के प्रकाश तुम हो, सारी ज्योति तुम्हारी है, इसे यहाँ तक अनुभव करो कि यह धरती, नाम, यश, साँसारिक सम्बन्ध, लोकप्रियता, अलोकप्रियता, सांसारिक मान और अपमान तुम्हारे शत्रुओं द्वारा आलोचना और मित्रों द्वारा प्रशंसा ये सब तुम्हारे लिए निरर्थक हो जाय। सफलता का यही रहस्य है।

१०००—मेरा जीवन सत्य के लिए है। सत्य कभी भी मिथ्या के साथ मेल नहीं करेगा। यहाँ तक कि यदि सारी दुनिया भी

मेरे विरोध में खड़ी हो जाय तो भी अन्त में सत्य की ही विजय होगी।

१००१—यह संसार कायरों के लिये नहीं है। भागने का प्रयत्न मत करो। सफलता या असफलता की परवाह मत करो।

१००२—क्या तुम पूर्णतः निःस्वार्थ हो। यदि हो तो तुम अजेय हो।

१००३—पक्षपात ही सारी बुराइयों का प्रधान कारण है।

१००४—दूसरों में दुष्टता मत देखो। दुष्टता अज्ञान है, कमजोरी है।

१००५—जान लो कि सारी बुराइयों को एक ही शब्द द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और वह है 'दुर्बलता'। समस्त असत् कार्यों के पीछे यह दुर्बलता ही एक मात्र प्रेरक शक्ति है। यह दुर्बलता ही सारी स्वार्थपरता की जड़ है। इस दुर्बलता के कारण ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं कर पाता।

१००६—ऐ महान, अपनी सर्वशक्तिमान प्रकृति को उदबुद्ध करो। तुम्हीं में तो सारी शक्ति निहित है। देखोगे यह सारी दुनिया तुम्हारे पैरों पर लोटने लगेगी। एक मात्र आत्मा ही शासन करता है, जड़ पदार्थ क्या शासन करेगा।

१००७—मैं तू यानी मनुष्य की आँख से दीखने वाला सारा जगत् अर्थात् सृष्टि के पदार्थों की अनेकता सत्य नहीं है। इन सब में एक ही शुद्ध और नित्य परब्रह्म भरा करता है और उसी की माया से मनुष्य को भिन्नता का भास हुआ है।

१००८—मन से दुःखों का चिंतन न करना ही दुःख निवारण की अचूक औषधि है।

१००९—जहां भी मन है वहाँ संसार है, मन नहीं रहने पर संसार भी नहीं है। यह संसार मन का संकल्प मात्र है।

१०१०—जिससे डरना है या जिसका शोक करना है वह तो अपने से जुदा होना चाहिये और ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव हो जाने पर इस प्रकार की किसी भी भिन्नता को अवकाश ही नहीं मिलता जैसा कि सुषुप्ति में कोई भिन्नता नहीं रहती तो भय भी नहीं होता।

१०११—जब तक यह बुद्धि बनी है कि मैं अलग हूं और दुनिया अलग है तब तक कुछ भी क्यों न किया जाय, ब्रह्मात्मा का पूरा ज्ञान होना सम्भव नहीं है।

१०१२—जिसे यह मालूम हो चुका है कि सब कुछ आत्म-मय है उसे पाप नहीं लग सकता; अतएव उसे पुण्य-पाप कहां?

१०१३—जो मनुष्य इस तत्व की पहचान करता है, आचरण किया करता है कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है, उसी के आचरण को सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं और जीवात्मा का भी यही स्वतन्त्र धर्म है कि ऐसे आचरण की ओर देहेन्द्रियों को प्रवृत्त किया करे।

१०१४—सत्य पर डटे रहने का आग्रह करो तो विदित होगा कि तुम किसी साधारण लोक में नहीं रहते हो। तुम्हारे लिये दुनिया अद्भुत चमत्कारों की बन जायगी। तुम्हारे चारों ओर अलौकिक घटनायें घटेंगी और धिक्कार है उन देवताओं को जो तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति में तुम्हारी खिदमत न करें।

१०१५—यदि लौकिक आसक्तियों और स्वार्थमयी इच्छाओं से आप अपने को आजाद कर लें, तो फिर सत्य पाने की बात ही क्या है? आप स्वयं इसी क्षण सत्य हैं।

१०१६—जब प्रलयकाल का पवन चले, अरु पुष्कर मेघ की वर्षा होवे, बड़वाग्नि लगे, अरु द्वादस का सूर्य तपे तो ऐसे क्षोभ विषे भी ज्ञानी पुरुष चलायमान नहीं होता, कहते हैं कि सर्वब्रह्म रूप जानता है। दुःख तब होता है जब आत्मा से इतर

भासता है, सो उसको आत्मा से इतर कुछ नहीं भासता।

१०१७—जहाँ भिन्नता दिखाई देती है, वहां एक दूसरे को देखता है, वहां एक दूसरे को सूंघता है, वहाँ एक दूसरे का रस लेता हैं, वहां एक दूसरे की चर्चा करता है, वहां एक दूसरे की सुनता है, वहां एक दूसरे की चिन्ता करता है, वहां एक दूसरे को छूता है, वहां एक दूसरे को जानता है।

१०१८—किन्तु जहां सब कुछ आत्मा ही आत्मा हो, वहां किसको किससे देखे ? किसको किससे सूंघे ? किसका किससे रस लेवे ? किसकी किससे चर्चा करे ? किससे किसकी सुने ? किससे किसकी चिन्ता करे ? किसको किससे छुए ? किसको किससे जाने ? जिससे यह सब (वस्तुयें) जानी जाती हैं उसको किससे जाने ? वह जानने वाला (ज्ञानस्वरूप) किससे जाना जाय ?

१०१९—यदि यों कहो कि आत्मा वहां (सुषुप्ति में) कुछ नहीं देखता तो (यद्यपि नहीं देखता पर) देखता हुआ नहीं देखता है, क्योंकि द्रष्टा स्वभाव आत्मा में देखने की शक्ति कभी नष्ट नहीं होती, वह अविनाशी है, किन्तु वहां दूसरा कोई है ही नहीं, आत्मा से भिन्न नाम और चिन्ह (रूप) वहाँ लुप्त है अतः आत्मा देखे किसको ? आदि

१०२०—जेते कुछ सुन्दर पदार्थ दृष्ट आते हैं सो मिथ्या हैं। तिनके निमित्त यत्न करना परम आपदा है। ये कैसे पदार्थ हैं, आपात रमणीय हैं जो देखने मात्र सुन्दर हैं।

१०२१—जो कोई तुम को उपदेश करता है सो सुन। तेरा जो कोई बड़ा पुण्य है। सोई शुद्ध संवित होकर मलीन संवित को उपदेश करता है। सो संवित न देवता है, न मनुष्य है, न यक्ष है, न राक्षस है। पिशाच आदिक भी नहीं हैं, केवल ज्ञान मात्र है।

सो भी तू ही है, अरु मैं भी वही हूं अरु जगत् भी वही है जो सब वही है तो वासना किसकी करनी है।

१०२२—जगत् पांच भौतिक है सो मन इन्द्रियों का विषय है अरु आतमपद है, सो मन इन्द्रियों का विषय नहीं।

१०२३—हे राम जी ! मैं भी आकाश रूप हूं, तू भी आकाश रूप है, सब जगत भी आकाश रूप है, किसी के साथ आकार नहीं, सब निराकार रूप है, अरु जो तू कहे बोलते-चालते क्यों हैं तो जैसे स्वप्न विषय सब आकाश रूप होते हैं अरु नाना प्रकार की चेष्टायें करते दृष्ट आते हैं परन्तु आकाश रूप हैं।

१०२४—अर्ध रात्रि को जो कोई उठता है, इन्द्रियों की चपलता के विषय से अभाव होता है, अफुर सत्ता तिस काल में होती है सो चिदाकाश है।

१०२५—दृश्य में प्रीति न रहना यही असली वैराग्य है।

१०२६—जिसे विवेक हुआ है उसे यह बोध निरंतर रहता है कि सारा प्रपंच मुझसे भिन्न नहीं है। उसके लिये केवल एक ही सत्ता रह जाती है।

१०२७—रोग हमें दबाना चाहता है। उससे हमारा विचार मन्द भी पड़ जाता है। इसलिये उसकी निवृत्ति अवश्य करनी चाहिये। परन्तु विचारवान पुरुष उसी के पीछे नहीं पड़ जाता वह तो यही देखता है कि भयंकर दुःख के समय भी उसका विचार तो नहीं टूटता। वह कभी हाय-हाय करके प्राण नहीं देता। क्योंकि वह जानता है कि रोग उसका दास है। वह कैसा भी भय दिखलावे उस के ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकता।

१०२८—यदि हम स्वप्न में ऐसा विचार करने लगें स्वप्न क्या है और स्वप्न द्रष्टा क्या है तो उस अवस्था में भी उनका विवेक हो ही सकता है तथा उसी समय यह भी सिद्ध हो सकता है कि जीव, प्रकृति और ईश्वर यह तीन तत्व हैं परन्तु विचार

किया जाता है तो वह स्वप्न द्रष्टा से भिन्न है ? स्वप्न द्रष्टा तो समग्र रूप है। अतः सिद्धांत यही है कि यह सब कुछ दृष्टा ही है।

१०२६—परमार्थ तत्व के विषय में तीन पक्ष हैं :

(१) मुझ से भिन्न कुछ भी नहीं है।

(२) सब मैं ही हूं।

(३) सब वासुदेव ही है।

विचार से देखा जाये तो तीनों एक ही हैं।

१०३०—बोधवान की दृष्टि में सारा प्रपंच बोध स्वरूप है। इसमें सब प्रकार के पाप-पुण्य, निन्दा-स्तुति, राग-द्वेष और दैवी एवं आसुरी प्रवृत्तियों की प्रतीति हो रही है। इसी से क्या वह उसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है। सारे प्रपंच को माया के विलास समझने के कारण उसे किसी भी घटना से कुतूहल नहीं होता। यदि सूर्य शीतल किरणों वाला हो जाय, चन्द्रमा तेजी से तपने लगे और अग्नि नीचे की ओर फैलने लगे तो भी जीवन मुक्त महात्मा को कोई आश्चर्य नहीं होता। ऐसे महात्मा लोग स्वभाव से निर्भीक होते हैं। संसार की बड़ी से बड़ी आपत्ति उन्हें अपने निश्चय से चलायमान नहीं कर सकती।

१०३१—प्रश्न—राग-द्वेप के अत्यन्ता भाव का क्या उपाय है।

उत्तर—उपाय यही है कि सारे प्रपंच को मनोराज्य देखे। निन्दा-स्तुति और राग-द्वेष से प्रपंच में सत्यत्व दृढ़ होता है।

१०३२—सम्पूर्ण प्रपंच बोधवान का ही संकल्प है। सारी सृष्टि जल से तरंग के समान उससे भिन्न नहीं हैं। जो कुछ है सब वही है। उसकी दृष्टि हीं सृष्टि है। उसका जो चिन्तन है वही सृष्टि हैं।

१०३३—जिस समय हमें कोई कत्ल करने को तैयार हो और हम प्रसन्नता से उसके लिये तैयार रहें—हमारे हृदय में किसी प्रकार का भय या विषाद उत्पन्न न हो, उस समय समझना

चाहिए कि हमने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की है। अथवा जिस समय हमारी दृष्टि पड़ते ही सिंहादि हिंसक जीवों की हिंसा वृत्ति दूर हो जाय, उस समय राग-द्वेष का अभाव समझना चाहिए।

१०३४—आत्मा से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, इसी का नाम आत्मनिष्ठा है।

१०३५—हमारा मनोराज्य हमसे भिन्न तो नहीं होता। भिन्न वही वस्तु हो सकती है जिसका कोई दूसरा बनाने वाला हो, यह संसार मेरा ही संकल्प है। अतः यह मुझसे भिन्न नहीं है।

१०३६—श्रुति कहती है कि ब्रह्मवेत्ता से सम्पूर्ण चराचर जीव प्रेम करने लगते हैं। इसका कारण यह है कि उसका किसी में राग-द्वेष नहीं रहता, क्योंकि उसकी दृष्टि शरीरादि अनात्म पदार्थों से उठ जाती है। वह सम्पूर्ण जगत् को अपना आप ही समझता है। उसकी दृष्टि सर्वदा दृष्टि-सृष्टिवाद पर रहती है। वह समझता है कि सारा प्रपंच मेरी ज्ञान दृष्टि का ही चमत्कार है, परन्तु यह दृष्टि सृष्टिवाद अभ्यास की चीज नहीं हैं। असंगता का अभ्यास करते-करते अपने को पूर्णतया असंग अनुभव करने पर यह दृष्टि स्वयं सिद्ध हो जाती है। क्योंकि उस समय अभ्यास से यह बात दृढ़ हो जायगी कि मैं चराचर का द्रष्टा हूं और सम्पूर्ण दृश्य मरु भूमि का जल है।

१०३७—चार बातें सदा याद रखो—

(१) संसार को दुःख रूप समझना।
(२) उसे स्वप्नवत समझना।
(३) उसे भगवान की माया समझना।
(४) उसे आत्मा की तरंग समझना।

१०३८—यह बात निश्चित ही है कि सम्पूर्ण प्रपंच आकाश के भीतर है। जो वस्तु आकाश में होती है वह वस्तुतः होती नहीं है। क्योंकि उसके निमित्त और उपादान कारण का अन्यन्ता

अभाव है। आत्मा में एक शक्ति वृत्ति होती है यही सम्पूर्ण प्रपंच को विषय करती है। जितने भाव पदार्थ हैं वे अभावके भीतर हैं। इसलिए वह वृत्ति पहले अभाव को ही ग्रहण करती है फिर अभावाकार होकर उन पदार्थों को अनुभव करती है। इस प्रकार अभाववृत्ति भाव पद्वार्थों की साक्षी है और आत्मा अभाववृत्ति का साक्षी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों से सर्वथा असंग है। अभाव वृत्ति के साथ तादात्म्य होने से ही उसे अन्य पदार्थों की प्रतीति होती है।

१०३९—जब संसार है ही नहीं तो फिर उसका चिन्तन ही क्यों करते हो ?

१०४०—मेरे से अतिरिक्त वस्तु न हुई है और न होगी, जितना भी कर्तापन-भोक्तापन है वह सब प्रतीति मात्र है—इसी का नाम ब्रह्मानन्द है यहाँ सम्पूर्ण प्रपंच का अभाव रहता है।

१०४१—विवेकी के लिए तो दृष्टि ही सृष्टि है अर्थात् मन का संकल्प ही संसार है और निःसंकल्प ही शान्ति है। चिन्तन ही जगत् है और यही विघ्न है तथा चिन्तन का अभाव ही शाँति है और यही विवेक का मुख्य कर्तव्य है।

१०४२—सारा दृश्य अपनी ही दृष्टि का विलास है। सारा दृश्य शून्य रूप है।

१०४३—स्वप्न द्रष्टा तुम्हीं हो और यह संसार तुम्हारा ही स्वप्न है। बस जिस समय तुम्हें यह ज्ञान हो जायगा उसी समय तुम्हारी मुक्ति हो जायगी।

१०४४—योगी को ध्यान के समय कुछ भी चिन्तन न करना चाहिये। सर्वदा शून्य पर परायण अथवा शून्यातीत रहना चाहिये।

१०४५—ज्ञानी अपने से भिन्न सबको भूल जाता है और भक्त अपने आपको ही भुला देता है।

१०४६—कितना भी चमत्कार हो अपने लक्ष्य से न हटो।

१०४७—विरक्त साधु को दो बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए—-

(१) विद्याभिमानी पंडितों के साथ न रहे।

(२) गोशाला, पाठशाला, मन्दिर अथवा स्थान धारी साधुओं के साथ न रहे। इन स्थानों में रहने से विरक्त के मन में भी काम करने की प्रवृति जाग्रत होगी।

१०४८—किसी एक स्थान या व्यक्ति का होकर न रहे। ऐसा होने पर उस व्यक्ति या स्थान से राग हो जाता है।

१०४९—साधु को फलाहारी, लवणत्यागी, दुग्धहारी या मौनी होकर नहीं रहना चाहिये। इससे व्यर्थ अभिमान हो जाता है।

१०५०—ज्ञानी की दृष्टि ही सृष्टि है। उसकी दृष्टि को निवृति सम्पूर्ण प्रपंच की निवृत्ति है।

१०५१—मैं सम्पूर्ण प्रपंच से भिन्न हूं, ऐसी भावना करने से चित्त की साम्यावस्था हो जाती है और यही चित्त की निर्विशेष स्थिति है। इसका अभ्यास अधिक बढ़ने पर चित्त विलीन हो जाता है।

१०५२—आसन स्थिर करने के लिये ऐसा संकल्प करना चाहिये कि जिस प्रकार पृथ्वी को धारण करने पर शेषजी बिल्कुल नहीं हिलते, उसी प्रकार मैं भी स्थिर रहूंगा। मैं शरीर और प्राण का द्रष्टा हूं।

१०५३—-दृश्य या अनात्म वर्ग से विवेक करते समय पहले तो ऐसी भावना करो कि मैं रूप से अलग हूं, अर्थात् काला, पीला, नीला, हरा, लाल जो कुछ भी दिखता है उन सबसे अलग हूं। फिर ऐसा विचारो कि सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष-शोक जो कुछ भी मन की कल्पना है उन सबसे भी मैं अलग हूं।

१०५४—(१) संसार मिथ्या है, यह मन्द ज्ञानी की धारणा है।
(२) संसार स्वप्नवत् है यह मध्यम ज्ञानी की धारणा है।
(३) संसार का अत्यन्ता भाव है अर्थात् संसार कभी हुआ ही नहीं। यह उत्तम ज्ञानी की धारणा है।

१०५५—यदि तुम भक्ति-मार्ग में हो तो यह सब भगवान की सृष्टि है, इसलिये तुम किसी की भी निन्दा नहीं कर सकते। और यदि ज्ञान-मार्ग में हो तो यह अपनी ही सृष्टि है, फिर अपनी ही बुराई। तुम कैसे करोगे ? अतः दोनों ही मार्गों में दूसरे की निन्दा करने का अवकाश नहीं है।

१०५६—गुण-दोषों से रहित समदर्शी मुनि को उचित है कि किसी के भले या बुरे कर्म करने पर अथवा वाणी से भला या बुरा बोलने पर न तो स्तुति करे न निन्दा ही। मुनि को चाहिये कि वह किसी प्रकार का भला या बुरा कर्म न करे। न भला बुरा कहे और न चित्त में ही विचारे और आतमा में रमण करता हुआ उदासीन वृत्ति से विचरे।

१०५७—द्रष्टा एक है। दृश्य अनेक हैं। द्रष्टा विकार रहित है और दृश्य विकार सहित हैं। दृश्य मायिक जड़ दुःख रूप है। द्रष्टा तत्व स्वरूप चैतन्य स्वरूप और सुख स्वरूप है।

१०५८—दृश्य में द्रष्टा का भान और द्रष्टा में दृश्य का भान हो रहा है, इस गड़बड़ी का नाम अविवेक (अज्ञान) है और द्रष्टा को द्रष्टा और दृश्य को दृश्य समझने का नाम विवेक (ज्ञान) है।

१०५९—सम्पूर्ण जगत माया अविद्या का कार्य है। इससे वे सब पदार्थ माया स्वरूप ही हैं और उन पदार्थों की आकृति आदि जो है वह रूप भी माया स्वरूप है। सम्पूर्ण माया दृश्य है,

इसीसे उनमें का रूप भी दृश्य है। इसी प्रकार रूप की अनेकता है। सम्पूर्ण पदार्थ माया के होते हुए भी माया स्वयं अस्तित्व रहित है वह स्वयं भी चेतन के आधार में है।

१०६०—नाम और रूप माया स्वरूप हैं और मिथ्या हैं। नाम और रूप में नाम जीव सृष्टि का और रूप ईश्वर सृष्टि का है।

१०६१—रूप अनेक हैं और उनका द्रष्टा नेत्र एक है ऐसा कहने से नेत्र की ही पदार्थों के रूप में अनेकता है ऐसा न समझना चाहिये। यहाँ नेत्र का कथन सब इन्द्रियों के निमित्त है।

१०६२—जैसे सबको स्वप्न कल्पित संसार झूठा होता है, उसमें शंका नहीं होती। वैसे ज्ञानी पुरुष को सम्पूर्ण जगत शंका रहित झूठा होता है। अन्तर में दृढ़ता से झूठा हुआ है। इसीसे व्यवहार होते हुए भी अन्तर चालित नहीं होता।

१०६३—ज्ञानी पुरुष आत्मबोध के पश्चात् सम्पूर्ण व्यवहार को देखता है। व्यवहार करता है तो भी उसे परमार्थिक सत्य है ऐसा कभी भी नहीं मानता, दीखता है सब होता है, परन्तु वास्तविक यह कुछ भी नहीं है। ऐसा मिथ्यात्व का परिपक्व निश्चय होता है। किसी अवस्था में भी जगत् सच्चा है ऐसी भूल नहीं होती। अपना और औरों के व्यवहार को भी देखने मात्र से ही मानता है सच्चा नहीं। ऐसे व्यावहारिक चिदाभास को भी मिथ्या ही मानता है और सुख-दुःख, जन्म-मरण भी चिदाभास से होने वाले परमार्थिक में मिथ्या ही है। वास्तविक तत्व अद्वैत परब्रह्म ही है ऐसे जानता है।

१०६४—याद रक्खो, परिस्थिति के सम्बन्ध में तुम्हारे मन की कल्पना तो है नहीं पर यदि यह आती है तो भी तुम्हारे लाभ के लिये ही आती है। तुमको चाहिये कि तुम न तो अनुकूल परिस्थिति की इच्छा करो, न प्रतिकूल परिस्थिति से भय करो। जो भी परिस्थिति आ जाय उसी से लाभ उठाओ।

१०६५—याद रक्खो, प्रत्येक परिस्थिति को अनुकूल प्रतिकूल न मानकर उसे परमात्मा की माया समझो, उसे केवल देखते रहो और किसी भी परिस्थिति से ज़रा भी प्रभावित न होकर आत्मस्वरूप में स्थित रहो।

१०६६—प्रतिबिम्बित मुख दिखाई पानी या दर्पण में देता है किन्तु वह प्रकाश वस्तुतः रहता पानी या शीशे के बाहर ही बाहर है। वह छाया जो पानी या दर्पण में दिखाई पड़ती है, सत्य नहीं होती।

१०६७—स्वप्न में वस्तुओं का दृष्टिगोचर और जाग्रत में संसार का भान होना यह पुरुष का प्रकाश माया के स्फटिक में से गुजर जाने के कारण है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, चित्र-विचित्र रंग (आभास) क्या है ? केवल पुरुषोत्तम के प्रकाश का आविर्भाव माया के स्फटिक में से बार-बार गुजरा हुआ। ये स्फटिक अनन्त हैं अर्थात् शरीर बहुसंख्यक है किन्तु पुरुषोत्तम (सूर्य) एक ही है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण से उस एक ही पुरुषोत्तम का प्रकाश निकल कर भांति-भांति की शोभा बना रहा है।

१०६८—तुम्हारा देखना ही सृष्टि का प्रत्यक्ष होना है, दृष्टि में ही सृष्टि है। ज्ञाता और ज्ञेय पृथक् पृथक् नहीं हैं। सबका अस्तित्व तेरे स्वरूप पर स्थिर है, तेरे 'अस्तु' का भिखारी है। हमारा साक्षी बनना और उनका विद्यमान होना दोनों सापेक्षक हैं।

१०६९—चराचर को विचलित कर देने वाले प्रलयकालीन विस्फोट के होने पर भी जिसका चित्त क्षुब्ध नहीं होता वह महात्मा कहा जाता है।

१०७०—दृष्टि सृष्टिवाद की रीति से प्रत्येक अवस्था चेतन की केवल दृष्टि मात्र है। वह नवीन ही भासती है। जिस समय

जिस अवस्था की स्फूर्ति होती है, उसी समय उसके पदार्थ, पदार्थ ज्ञान में उपयोगी त्रिपुटी और अनुभूत पदार्थों की स्मृति का भी स्फुरण हो जाता है। अतः प्रत्येक अवस्था की स्फूर्ति के समय उसमें प्रतीत होने वाले पदार्थ, संस्कार एवं स्मृति आदि भी नवीन ही स्फुरित होते हैं।

१०७१—जिसका चित्त विषय शून्य और हृदय शान्त है, उसका सारा संसार मित्र हो जाता है और मुक्ति भी उसकी मुट्ठी में आ जाती है।

१०७२—चाहे करोड़ों शत्रु उपस्थित हों उनसे प्रेम ही करना चाहिये। चाहे करोड़ों मित्र आ जायें उनसे राग नहीं करना चाहिये। जो मान के इच्छुक हैं उन्हें मान देना चाहिये तथा और भी जो व्यक्ति हमसे जिस वस्तु की इच्छा करे उसे यथा सम्भव वह वस्तु दे देनी चाहिये।

१०७३—यह संसार असत् है इसी का नाम ज्ञान है और संसार की सत्ता मानना ही अज्ञान है।

१०७४—जब तक किसी प्रकार का भय है तब तक तो तत्व ज्ञान की गन्ध भी नहीं। जब संसार से निर्भय हो जाय और संसार को तृणवत समझे तभी कोई ज्ञानी हो सकता है।

१०७५—विचार करो, समस्त दृश्य जगत् संकल्प से पूर्ण है। जैसा संकल्प करोगे ठीक उसी भांति दृष्टिगोचर होने लगेगा। संकल्प समुद्र के जल की बूंद के समान है अनन्त संकल्प समूह ही संसार है। वास्तव में संकल्प से भिन्न कुछ नहीं है। ऐसा विचार करके विश्व प्रपंच की आसक्ति का नाश कर दो।

१०७६—चाहे आँखें खुली रखो, चाहे बन्द, आवश्यकता है चेष्टा शून्य हो जाने की। इस अभ्यास से सारी बीमारियां दूर हो जायेंगी।

१०७७—शरीर में जो भारीपन होता है वह वायु और कफ

के कारण होता है। पित्त अर्थात् गर्मी के वढ़ जाने पर शरीर हल्का हो जाता है। गर्मी को ही बिजली भी कहते हैं। आसन और प्राण के स्थिर होने पर शरीर में बिजली पैदा होती है। यदि शरीर से कोई भी क्रिया की जाती है तो उसके साथ बिजली निकल जाती है। विजली को रोकने से शरीर निरोग हो जाता है।

१०७८—मैं ब्रह्म हूं तथा यह सर्व विश्व मेरे विषे कल्पित है।

१०७९—जो जो पदार्थ दृश्य हुए हैं सो सो मिथ्या ही हुए हैं। जैसे शुक्ति विषे प्रतीत हुआ रूप दृश्य होने से मिथ्या ही है।

१०८०—समस्त चिकित्सा, समस्त आकर्षण (चुम्बकत्व) और समस्त वशीकरण शास्त्र का रहस्य यही है कि तू अपने को समग्र निश्चय कर, फिर वास्तव में समग्र तू ही है। यही तत्व है। इसी तत्व में तू बास कर, अनुभव कर कि "मैं समग्र हूं", "मैं सर्वशक्तिमान हूं", "मैं परमेश्वर हूं"। जब तक अपने सिवाय कोई दूसरी वस्तु भान होती है, तब तक आप सीमाबद्ध और शांत हैं।

१०८१—स्वप्न के पदार्थ स्वप्न में सच्चे प्रतीत होते हैं। स्वप्न में स्वप्नावस्था के पदार्थ भूठे हैं, यदि कोई यह जानना चाहे तो जान नहीं सकता। स्वप्न की सृष्टि थोड़ी देर की और विचित्र होती है। जब आदमी जागता है तब जानता है कि चार-पाई पर पड़ा हूं, मेरे भीतर स्वप्न हुआ, स्वप्न के पदार्थ, देश काल और सब क्रिया मेरे सिवाय और कुछ नहीं थी। जैसे स्वप्न के पदार्थ भूठे हैं इसी प्रकार तत्व ज्ञानी पुरुष जो अज्ञान रूपी निद्रा में से ज्ञान रूपी जाग्रत अवस्था को प्राप्त हुआ है वह ज्ञान के लक्ष्य से कहता है कि एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है।

१०८२—इन्द्रियाँ विषयों की द्रष्टा हैं, मन इन्द्रियों का द्रष्टा हैं, बुद्धि मन की द्रष्टा है और अभिमान बुद्धि का द्रष्टा है। जब तक हम उसे ही द्रष्टा मान लेते हैं जो दृश्य है, तब तक जो सर्व का द्रष्टा है उसको अथवा यों कहो कि जो भी मान्यताओं से अतीत द्रष्टा है उसको नहीं जान पाते हैं।

१०८३—भय का वास्तव में अस्तित्व नहीं है, क्योंकि भगवान ने जो वस्तुयें बनाई हैं, वे सभी मंगलकारी हैं। मंगलमय भगवान ने ऐसो किसी वस्तु का निर्माण ही नहीं किया है, जिससे मनुष्य को भयभीत होना पड़े। इस संसार में केवल भगवान और उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं का ही अस्तित्व है।

१०८४—जिस वस्तु से आप भयभीत होते हैं, उस वस्तु में वस्तुत: उतनी शक्ति ही नहीं है कि वह आपको भयभीत कर सके। भय का वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है। भय के लिये मेरे जीवन में कहीं स्थान ही नहीं है।

१०८५—जो ज्ञानवान पुरुष हैं, तिनको जगत् सत असत कुछ नहीं भासता। केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप स्थित भासती है। अरु जो अज्ञानी हैं तिनको भिन्न भिन्न नामरूप भासता है।

१०८६—ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसे प्रणाम करूँ, मैं सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ हूं। सब मेरी ही विभूति है, मैं ही सब हूं।

१०८७—सारा दृश्य शून्य रूप है। इसका कोई आधार नहीं है। इस शून्याशून्य से विलक्षण इसका आधारभूत एक मात्र मैं ही अखण्ड परिपूर्ण तत्व हूं। मुझसे भिन्न और कुछ है ही नहीं। ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड मुझमें ही अध्यस्त और इनका अधिष्ठान भूत मैं इनसे सर्वथा असंग हूं। यह अनुभव इतना स्पष्ट था मानों नेत्रों से दीख रहा हो। ऐसा जान पड़ा मानों मैं ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सार्वभौम सम्राट् हूं।

१०८८—उत्तम पक्ष तो यह है कि हम किसी को भला या बुरा न समझकर केवल भगवत् स्वरूप समझें। मध्यम पक्ष यह है कि सबको शुभ कामना से सबको हित दृष्टि से उनके कल्याण के लिये श्री हरि से प्रार्थना करें कि प्रभो! ये जीव आपकी महिमा को न जानकर और आपही की माया से मोहित होकर भूले हुए हैं, इसीसे हमसे द्वेष करके ये अपने परलोक बिगाड़ते हैं। दयामय! इन पर दया करो और इन्हें प्रेम दान करो जिससे इनकी बुद्धि शुद्ध हो और आपका आश्रय ग्रहण करके अनायास ही संसार सागर से पार हो जायं।

१०८९—यह जीव जब तक मायातीत होकर भगवच्चरणारविन्दों को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक एक क्षण को भी निष्काम नहीं हो सकता। इसीलिए साधन में परोपकारादि भी एक प्रकार से विघ्न ही है। साधक को चाहिए कि बड़ी तत्परता से प्राणों की बाज़ी लगाकर अपनी सारी शक्ति साधन में लगादे। फिर भूलकर भी दायें-बायें न देखे।

१०९०—यदि शारीरिक कष्ट के समय ऐसी भावना हो जाय कि यह मेरे प्यारे प्रभु की ओर से है तो वह कष्ट तप का फल देता है।

१०९१—साधक अपनी शारीरिक और मानसिक दुर्बलता को कभी समर्थ गुरु के सामने प्रकट न करे। उनके सामने फूल की तरह खिला रहे। इससे उनके अन्दर यह संकल्प होगा कि यह तो बड़ा ही उत्साही पुरुष है, सदा प्रसन्न ही रहता है, तो उनकी उस समय संकल्प से वह कृत्रिम प्रसन्नता भी वास्तविक प्रसन्नता में बदल जाती है।

१०९२—यदि रोग को भी भगवान की ही देन मान लें तो प्रारब्ध भोग भी हो जाता है और वह रोग तप का फल देता है। उससे भगवत् कृपा की ही उपलब्धि होती है।

१०९३—तू ऐसी भावना कर कि मैं महावीर हूं। मैं राम जी का दास हूं। माया कभी मेरे निकट नहीं आ सकती।

१०९४—मैं कौशल नरेश पुण्य कर्मा भगवान राम का दास, शत्रु की सेनाओं का संहार करने वाला पवन नन्दन हनुमान हूं। करोड़ों अधम रावण भी मेरी बराबरी नहीं कर सकते, क्योंकि मैं श्रीराम का दास हूं। मेरे पराक्रम का कोई पारावार नहीं है।

१०९५—मैं ईश्वर हूँ, ये सब सृष्टि मेरी रची है।

१०९६—मनुष्य अपने लक्ष्य को दृष्टि में रखकर सीधा तीर की तरह चला जाय। न दायें देखे न बायें। यदि इधर-उधर दृष्टि जाती है तो समझो कि निष्ठा स्थिर नहीं है।

१०९७—ज्ञानी की दृष्टि में तो सब उसका अपना आप ही है। तो क्या वह अपने से ही विरोध करेगा ? और भक्त की दृष्टि में सर्वत्र उसका ईष्ट देव ही है अतः उसे तो विरोध के लिये रञ्चक मात्र भी गुञ्जाइस नहीं है।

१०९८—जो व्यक्ति इधर-उधर दृष्टिपात न करके अनन्य भाव से अपने साधन पथ पर ही चलता रहता है उसके सारे विघ्न स्वतः ही शान्त हो जाते हैं।

१०९९—यदि हम चाहते हैं कि श्री भगवान हमारे अपराधों को क्षमा करें तो उसका सुगम साधन यही है कि हम अपने से सम्बन्ध रखने वाले लोगों के सभी अपराधों को क्षमा कर दें। कभी किसीके दोष या अपराधों पर दृष्टि न डालें। क्योंकि वास्तव में सब रूपों में हमारा प्यारा इष्टदेव ही तो क्रीड़ा कर रहा है।

११००—वास्तव में न कोई इन्द्रिय है, न इनके विषय हैं, न मन का फुरना है, सब आभास मात्र है।

११०१—जिस जगत् को सत्य जानकर हम विचरते थे वह है ही नहीं, फिर भय, शोक, चिन्ता कैसी ?

११०२—निज आत्मा का चेतन प्रकाश, सूर्य, चन्द्र आदि

प्रकाशों से अत्यन्त निराला है। वह ऐसा उजाला है कि जिससे समस्त स्थूल उजालों को अनुभव किया जाता है इसीलिये वेदों में इसे स्वयं प्रकाश साक्षी रूप से वर्णन किया गया है।

११०३—पूर्ण पवित्रता का अर्थ है बाहरी प्रभावों के अधीन न होना। सांसारिक मनोहरता और घृणा से परे रहना। रीझ और खीझ से अविचलित बने रहना। किसी में भी भेद न देखना और आत्मानुभव द्वारा आकर्षणों और त्यागों से प्रभावित न होना ही वेदान्त उपनिषदों का रहस्य है।

११०४—वास्तव में यह संसार अपने ही विचारों का प्रतिबिम्ब मात्र है।

११०५—चाहे मृत्यु सन्मुख आ रही हो, भूख व्याकुल कर रही हो। चलते पैरों में छाले पड़ गये हैं। किसो वृक्ष के नीचे पड़ा हो और जीवन दूभर हो गया हो। बुद्धि विचार करने में शिथिल पड़ गई हो तो भी उसके अन्दर से यही निर्भय ध्वनि निकलने लगतो है कि सोऽहम् सोऽहम्। मुझे न कोई भय है और न मृत्यु है, न मुझे भूख हैं न प्यास है, प्रकृति की कोई भी व्यथा मुझे नष्ट नहीं कर सकती। मैं वही हूं, मैं वही हूं।

११०६—सम्पूर्ण संसार चित्रवत् दिखाकर साक्षी स्वयं प्रकाश का अनुभव कराता है, फिर वह मुमुक्षु शरीर को देखता हुआ भी नहीं देखता।

११०७—जहाँ कहीं निर्बलता के विचार हों, वहां पाँव न रखो। यदि उन्नति चाहते हो तो सभी प्रकार की दुर्बलता त्याग दो।

११०८—हम ईश्वर में रहते हैं और उसीमें ही चलते फिरते है। मत सम्प्रदायों से हमारा क्या ? वे तो अपनी उन्नति चाहते हैं।

११०९—आपने अपने जीवन में सहस्त्रों स्वप्न देखे होंगे, पर वे आपके अंश नहीं बन जाते। वैसे जाग्रत के आडम्बर आपकी आत्मा के आगे कोई महत्व नहीं रखते।

१११०—नाटक में यदि हमारे पिता या हमारे कोई प्रिय मित्र राक्षस, भूत या सिंह बाघ के वेष में आते हैं तो उन्हें पहचान लेने पर हम जैसे उनसे न तो डरते हैं और न द्वेष करते हैं, ऐसे ही भगवान को जब समस्त रूपों में हम पहचान लेते हैं तब किसी भी रूप से न हमें द्वेष रहता है, न भय और न घृणा ही।

११११—द्वैतदर्शी मोह, शोक और भय को ही सदा प्राप्त होता है और बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है। इससे मुख्य तत्व एक ही है और वह सद्‌गुरु है। जब मुख्य तत्व एक ही है तब द्रष्टा और दृश्य एक ही हैं।

१११२—जैसे स्वप्न के दृश्य पदार्थ स्वप्न द्रष्टा पुरुष को स्वप्नावस्था में अपनी सत्ता से ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि स्वप्न पदार्थों की वहां अपनी सत्ता कुछ नहीं है। वे स्वप्न द्रष्टा में ही कल्पित हैं। जब स्वप्नद्रष्टा जाग्रत में आ जाता है तब वे स्वप्न के दृश्य पदार्थ जाग्रत द्रष्टा को प्रतीत नहीं होते हैं। परन्तु द्रष्टा अपने आपको जानता है कि मैं वही हूं जो स्वप्न का द्रष्टा था। इससे सिद्ध हुआ कि द्रष्टा तो बिना स्वप्न के दृश्य के भी ठहरा हुआ है। परन्तु स्वप्न का दृश्य बिना उसके द्रष्टा के नहीं ठहरता है। इससे स्वप्न का दृश्य स्वप्न द्रष्टा के अन्तर्गत ही है कल्पित होने से। तैसे ही जाग्रतावस्था का दृश्य अपने जाग्रतावस्था के द्रष्टा से भिन्न नहीं है क्योंकि जाग्रतावस्था के द्रष्टा को वे दृश्य अपने में कल्पित अपनी सत्ता से ही प्रतीत होते हैं।

१११३—इससे सिद्ध हुआ कि दृश्य बिना द्रष्टा के नहीं रह सकता और द्रष्टा बिना दृश्य के भी रह सकता है। इससे दृश्य

द्रष्टा के ही अन्तर्गत है। द्रष्टा दृश्य के अन्तर्गत नहीं है। और सच तो यों है कि एक ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अजर, अमर, अनन्त, अखंड, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप तत्व में द्रष्टापना और दृश्य ये दोनों कल्पना भ्रम से प्रतीत होते हैं। जिस जिज्ञासु का यह भ्रम सद्गुरु की कृपा से दूर हो जाता है उसका अपना निर्विशेष स्वरूप एक अद्वितीय ही शेष रहता है। यही तत्वमसि के लक्ष्यार्थ अद्वितीय सद्गुरु तत्व है।

१११४—मैं ब्रह्मरूप हूं तथा सब विश्व मेरे विषे कल्पित है।

१११५—जो मनुष्य अनुकूल, प्रतिकूल, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पंच विषयों को सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूंघ करके न तो खुश होता है न खिन्न होता है, उसे जितेन्द्रिय समझना चाहिए।

१११६—जिस आत्मज्ञानी पुरुष को प्रिय, अप्रिय तथा सुख-दुःख और भूत-भविष्य एक ही समान है वह ज्ञानी निस्सन्देह बड़ा धनी है।

१११७—शत्रु पर भी प्रेम रखो, भगवान को प्रसन्न करने का यह बड़ा अच्छा साधन है।

१११८—दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होने वाला लोहे के समान है। दुःख मैं सुखी रहने वाला सोने के सदृश्य है। दुःख-सुख में बराबर रहने वाला रत्न के तुल्य है और जो सुख-दुःख की भावना से परे है वह सच्चा सम्राट् है।

१११९—ईश्वर साक्षात्कार तब होगा जब संसार की दृष्टि से प्रतीत होने वाले बड़े से बड़े वैरियों को भी क्षमा करने का स्वभाव बन जायेगा।

११२०—मन को सदैव शांत रखो, चाहे तुम्हारे चारों ओर कितने ही विषाद हों और कितने ही क्लेश के कारण मौजूद हों।

११२१—छोटे बड़े सबका शरीर नारायण का शरीर है।

११२२—जब एक ही एक देखा गया अर्थात् सर्वत्र ऐक्य का अनुभव हुआ तो ऐसे ऐक्य देखने वाले को फिर शोक और मोह कहाँ ?

११२३—सूर्य उसीके हुक्म से जलता है, इन्द्र उसीका पानी भरता है, पवन उसी का दूत है, उसीके आगे दरिया रेत में माथा रगड़ते हैं।

११२४—राजे, महाराजे, देवी, देवता, वेद, किताब जो कुछ भी हैं एक आत्मदर्शी का संकल्प मात्र हैं।

११२५—यदि तुम अपने आत्मस्वरूप को परमात्मा समझो और अनुभव करो, तो आपके सब विचार और मनोरथ अवश्य सफल होंगे, उसी क्षण पूर्ण होंगे।

११२६—चराचर सभी दृश्य केवल मन के कारण हैं। जब यह मन अमन हो जाता है, तब द्वैत का कोई अनुभव ही नहीं करता।

११२७—करोड़ों विघ्न आने पर भी संत नीति को नहीं त्यागता।

११२८—"मैं ज्योति हूं" मैं साक्षी हूं "मैं सत्य हूं" यह सब संसार नाम का नाटक (अभिनय) मेरे अनुशासन में होता है तो यही साक्षात्कार है और यही जीवन मुक्ति है।

११२९—यह द्वैत दूर कर, मुझ से भिन्न कोई हिन्दू, तुर्क, अन्य नहीं है। मुफ्त में शोर मत कर क्योंकि यह सब तू ही आप है और सबको साध (उत्तम) देख कोई चोर नहीं है, क्योंकि तू ही उन सबके घट में बस रहा है।

११३०—सब कुछ मैं आप ही आप हूं। जिज्ञासु और इच्छित मेरे बिना कोई नहीं। मैंने जो कहा था कि मैं आशिक अर्थात् इस पर आसक्त वा प्रेमी हूं यह मेरी भूल थी।

११३१—पृथ्वी और आकाश का स्वामी मैं हूं (अर्थात् पृथ्वी और आकाश सब मेरे अन्दर हैं)। संसार तो मेरा ख्याल मात्र है।

११३२—मैं फरिस्तों या देवताओं का पूजनीय हूं। अर्थात् देवतागण मेरी उपासना करते हैं।

११३३—यह सारी दुनिया खतम हो गई, अर्थात् सारी दुनिया की होली हो गई। सारी दुनिया होली की अग्नि में जल कर राख हो गई। अब शेष कुछ भी नहीं रहा।

११३४—जिधर देखता हूं जहाँ देखता हूं मैं अपनी ही छाया (प्रकट, व्यक्त) देखता हूं। यह जो कुछ पैदा है सब मैं ही हूं। मुझ से भिन्न कुछ भी नहीं है। यह समस्त संसार भ्रम मात्र है।

११३५—ऐ दुनिया के बादशाहो! और ऐ सातों आसमानों के तारो! मैं तुम सब पर राज्य करता हूं। मेरा राज्य सब से बड़ा है।

११३६—ऐ प्यारे! जिसे आप जाग्रत समझ रहे हो वह तो घोर सुषुप्ति है। क्योंकि यह सब विषय के पदार्थ तो "क्लोरोफार्म" दवाई की तरह है, जिसको सूंघने अर्थात् भोगने से सब रोम खड़े हो जाते है और गला रुक जाता है।

११३७—मुझ में सब कुछ है, सब मुझ में है, मैं ही सब कुछ हूं। मेरे बिना कुछ नहीं है।

११३८—अपना अनुभव करने के लिए अपने से भिन्न मत देखो। निज स्वरूप का बोध अभ्यास से, सर्वत्याग से होता है। अपने आप में सन्तुष्ट होने से माना हुआ "मैं" मिट जाता है।

११३९—जो प्रतिकूलता को अपनाते हैं वे भगवान के सम्मुख होते हैं। वे जिसे अपने से दूर रखना चाहते हैं उसे अनुकूल परिस्थिति देते हैं। जिसे सभी वस्तुएँ अनुकूल और पवित्र, सब घटनायें लाभकारी, सब दिन शुभ, सभी मनुष्य देवता रूप दिखाई दें वही तत्वदर्शी संत है।

११४०—व्यष्टि और समष्टि सब मैं ही हूं और दोनों से अलग भी मैं ही हूं।

११४१—बुद्धिमान पुरुष संसार की चिन्ता नहीं करते, अपनी मुक्ति की करते हैं। मुक्ति की चिन्ता ही त्यागी, दानी, सेवा परायण बनाती है।

११४२—आप ही प्रत्येक वस्तु हैं भूत प्रेत, देवता तथा देवदूत, पापी तथा पुण्यात्मा सब आप ही तो हैं। इस बात को जान लीजिये, इसे अनुभव कीजिये और 'मुक्त हैं' यही त्याग का मार्ग है।

११४३—सच तो यह है कि परिस्थिति जितनी कठिन होती है, वातावरण उतना ही पीड़ाकर होता है। उन परिस्थितियों से निकलने वाले उतने ही बलिष्ट होते हैं। अतः इन समस्त बाहरी कष्टों और चिन्ताओं का स्वागत करो। इन परिस्थितियों में भी वेदान्त को आचरण में लाओ। और जब आप वेदान्त का जीवन व्यतीत करेंगे, तब आप देखेंगे कि समस्त वातावरण और परिस्थितियाँ आपके वश में आ रही हैं, वे आपके लिए उपयोगी हो जायंगी।

११४४—हर एक पदार्थ से अपने मोह को हटा लो और एक चीज पर, एक तथ्य पर, एक सत्य पर, अपने ईश्वरत्त्व पर सारा ध्यान केन्द्रित करो। तुरन्त ही तुम्हें आत्म साक्षात्कार होगा।

११४५—चित्त समता विचार से शीघ्र ही वश में होता है। हठ से शीघ्र नहीं। किन्तु धीरे-धीरे साधा जाता है।

११४६—ऊपर का वस्त्र भी ओढ़ने को जिसके न होवे, विना बिछौने के सोने वाला, भुजा रूप तकिये वाला ऐसा जो शान्त पुरुष है, उसको देवता ब्राह्मण जानते हैं।

११४७—जो कुछ मिला उससे शरीर को ढकने वाला, जो

कुछ मिले उसे खा लेने वाला, जहाँ कहीं सो जाने वाला, ऐसा जो हो उसको देवता ब्राह्मण जानते हैं।

११४८—कन्था, कौपीन, वस्त्रवाला, दंडधारी, ध्यान परायण पुरुष जो अकेला रमण करता है उसको देवता ब्राह्मण जानते हैं।

११४९—उस एक ही आत्मा को जानो, अन्य वाणी को छोड़ो। धीर ब्राह्मण उस परमात्मा का ही साक्षात्कार करके आत्मज्ञान निष्ठा को धारण करे, बहुत शब्दों का चिन्तन, भाषण न करे। क्योंकि वह मन वाणी को परिश्रम देने वाला है।

११५०—जो पुरुष जनसमूह से इस प्रकार भयभीत होता है, मानो सर्प से, और नरक की नाईं सन्मान से डरता है तथा जो स्त्रियों से ऐसे डरता है मानो मृतक शरीर से उस पुरुष को देवतागण ब्राह्मण जानते हैं।

११५१—अपरोक्ष आत्मज्ञान से मिथ्या निश्चित किया हुआ जगत भास रहा है, वह वस्तुतः नहीं है (एक आत्मा ही है) इस प्रकार जो जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है।

११५२—जिस प्रकार यह स्वप्न प्रपंच मुझ में माया से विस्तृत है, इसी प्रकार जाग्रत प्रपंच भी मुझ में माया से विस्तृत है। ऐसा जो जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है।

११५३—शब्द, स्पर्श, रूप, रसादिक जगत माया का कार्य है, यह तो वस्तुतः है ही नहीं, ऐसा निश्चय तत्वज्ञान है। उस तत्वज्ञान के उत्पन्न न होने पर रूप, रसादिक विषयों के सद्भाव रहने से विषय गोचर चित्त की वृत्तियों का निवारण नहीं हो सकता है।

११५४—तू आनन्द कन्द होता हुआ भी दुःख का स्वप्न देख रहा है यही तेरी अज्ञानता है।

११५५—जिस प्रकार स्वदेह के अवयवों पर कोप नहीं होता है, इसी प्रकार रिपु, बन्धु और स्वदेह में बराबर एक आत्मा

देखने वाला विवेकी को क्रोध कैसे आ सकता है।

११५६—आदि से ही सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई, दृश्य का सदा से ही अभाव है। यह जगत और परिच्छिन्न अहंकार भी नहीं है। इसको परम ज्ञान का अभ्यास कहते हैं।

११५७—ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु के अत्यन्त अभाव निश्चय अभाव सम्पत्ति है। सो यह मनोनाश का उपाय है।

११५८—दृश्य असम्भव है, इस बोध से रागद्वेषादि के निवृत होने पर जो यह नवीन आत्मरति उदय हो सो ब्रह्माभ्यास कहलाती है। इति सो यह वासना क्षय का अभ्यास है।

११५९—मैंने तो शरीर को भगवान के अर्पण कर दिया है। अब इसके भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि धर्मों से मेरा क्या? अर्पण की हुई वस्तु में आसक्त होना महापाप है।

११६०—एक मन तो क्या, असंख्य मन, इन्द्रिय अलग अलग प्रकार की क्रियायें कर रहे हैं तो भी हमारे सत् चित् आनन्द स्वरूप की समाधि कभी नहीं टूटती। उसमें कोई भी कल्पना प्रवेश नहीं कर सकती। तन, मन, धन प्रकृति का है। प्रकृति ही कर्त्री भोक्ती है।

११६१—द्रष्टा स्वरूप ब्रह्म में यह दृश्य स्वरूप जगत संकल्प मात्र से सिद्ध हो रहा है और संकल्प के क्षीण होने से दृश्य दिखाई नहीं देता। आदि अन्त से रहित द्रष्टा स्वरूप ही स्वयं जहाँ तहाँ विराजमान है, उसे दृश्यमान संसारी पदार्थों के संयोग-वियोग का कोई हर्ष-शोक, हानि-लाभ, तपायमान नहीं करता। तब कहा है—

द्रष्टा दृश्य न होत है, दृश्य न द्रष्टा मीत।
यह निश्चय पक्का धारके, शोक न करना चित्त ॥

जिसको यह निश्चय हुआ कि द्रष्टा साक्षी है वह कभी भी दृश्य नहीं हो सकता और न दृश्य ही कभी द्रष्टा हो सकता है।

वह उत्तम अधिकारी सदा द्रष्टा स्वरूप सच्चिदानन्द में स्थित होकर दृश्य स्वरूप संसार को तर जाता है।

११६२ जो इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूं, वह वही स्वरूप हो जाता है।

११६३—जब मैं मन बुद्धि नही हूं, तब इनके उत्तरदायित्व, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ को अपना मान कर मैं व्यर्थ क्यों रो मरूँ।

११६४—ईश्वरीय सृष्टि में न कुछ बुरा है न कुछ भला है। सब सत्य के प्रकाश में स्वाभाविक शक्ति विलास ही है। असम दर्पण में जैसे मुख ज्यों का त्यों दृष्टि नहीं पड़ता, इसी प्रकार अशुद्ध मन में ईश्वरीय सृष्टि ठीक-ठीक नहीं दिखाई पड़ती। बल्कि भली या बुरी वासना भेद से दृष्ट पड़ती है।

११६५—मन अपनी शक्ति से जैसे स्वप्न में कुछ न होते हुए भी विश्व उत्पन्न कर देता है, इसी प्रकार जाग्रत में जगत उत्पन्न करने वाला मन ही है। उसी से सब प्रपंच का विकाश समझो। यदि मन से जगत की उत्पत्ति न होती तो सुषुप्ति में भी जगत रहना चाहिए था। सुषुप्ति में जगत नहीं रहता।

११६६—जिस प्रकार अपने हीं रचित स्वप्न जगत को एक अज्ञानी भयप्रद दुःखदाई देखता है उसी प्रकार वह ईश्वर रचित जगत को भी अपने अज्ञान के कारण ही दुःख, अन्धेर व अन्याय से भरा हुआ देखता है। ज्ञान होने पर वह न स्वप्न जगत को और न इस जाग्रत (मन) जनित जगत को भयप्रद या भला-बुरा पाता है। जब वह (जीव) स्वरूप से सच्चिदानन्द व पूर्ण तृप्त है और यह संसार प्रतीति मात्र होते हुए भी सद्‌उद्देश्य जनित है, फिर भले बुरे का प्रश्न अज्ञान में ही उत्पन्न हो सकता है।

११६७—जो कुछ जगत देखने में आता है वह सूक्ष्म शरीर की छाया मात्र है। जैसे जब दर्पण में मुख देखते हैं, तब अपना मुख अपने पास होते हुए भी बाहर दर्पण में दीखता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में संसार दीखता है। बाहर दीखने वाला संसार उसी का आभास है। सब संसार हमारी वासना भावना का ही दृश्य है, परन्तु बाहर की दृष्टि होने से बाहर दीखता है।

११६८—मुझ में बुदबुदा रूपी लाखों शरीर मर मिटे और उत्पन्न हो गये पर मैं नित्य अद्वैत रूपी समुद्र ही हूं और मुझ में नानात्व रूपी लहरें केवल धोखा है।

११६९—सुख-दुःख, लाभ-हानि, मैं तू, हर्ष शोकादि जितने द्वन्द्व हैं वे सब द्वैत में होते हैं। जहाँ द्वैत नहीं है वहाँ सुख-दुःखादि भी नहीं है। कारण शरीर में द्वैत की प्रतीति नहीं होती, इसलिए सुख-दुःख का अनुभव भी नहीं होता। स्थूल और सूक्ष्म शरीर में मैं और तू आदि का भेद होता है अतएव दुःख होता है। कारण शरीर में मैं और तू का भेद न होने से वह दुःख रहित है।

११७०—अब तो मैं जीवरूप में अन्न खा रहा हूं। प्रलय होने पर तो सबको खाने वाली अग्नि आदि को भी मैं खा डालता हूं। यों जब प्रलयकाल में इस सकल जगत का मुझ में ही होम हो जायगा तब तो शेष रहेगा वही तत्व मैं अब भी हूं। फिर क्यों मैं इस प्रतिभासिक जगत में फंसता फिरूँ? यथा क्यों अनन्त दुःखों को निमन्त्रण दे लूँ? बस यही मनुष्य के उद्धार की संक्षिप्त प्रक्रिया है।

११७१—अपने आपको न जानो तो जगत आ जाता है। अपने आपको पहचान लो तो जगत नहीं रहता। जगत का अस्तित्व आत्मा को न जानने तक ही है यों जगत का उपादान आत्मा ही है।

११७२—ज्ञान होने पर ही मालूम होता है कि ओ हो आत्मा को ढकने वाली तो कोई वस्तु ही यहाँ नहीं थी।

११७३—जिस को कोई नहीं जानता है कि वह सत है अथवा असत है, अपठित है अथवा बहु पठित है। सदाचारी है अथवा दुराचारी है वह निश्चय कर के यति है।

११७४—जगत का सार देह, देह का सार इन्द्रियाँ, उनका सार प्राण और प्राणों का सार मन, इसका सार बुद्धि, बुद्धि का सार अहंकार, इसका सार जीव है, जीव का सार चिदावली, वह चिदावली ईश्वर है। चिदावली का सार चैतन्य है अर्थात् आदि जगत से लेकर चिदावली तक नाम रूप सब फुरने मात्र है। एक अफुर ब्रह्म सबका अधिष्ठान (असली रूप) है।

११७५—जैसे स्वप्न की चेष्टायें निद्राकाल में सत्य भासती हैं पर जागने से उनका अभाव हो जाता है तैसे यह जगत अज्ञान से भासता है और बोध होने पर सबकी एकता होती है। वायु के वेग से समुद्र में अनेक तरंगें भासते हैं, वास्तव में सबका अत्यन्ता भाव है। तैसे ब्रह्मज्ञान से जगत असत् होता है।

११७६—जैसे स्वप्न में स्वरूप के अज्ञान और वासना के वेग से मनुष्य सुख-दुःखों को भोगता है जब नींद से जागे तब अपना निर्विकार रूप भासे, तैसे वास्तव स्वरूप को स्मरण करके निर्विकार ब्रह्म में विश्राम होता है।

११७७—हे रामजी ! अन हुआ संसार भ्रान्ति कर सत्य भासता है। जो पदार्थ दोनों कारणों से बनता है वह कुछ भी माना जाय पर उपादान व निमित्त कारणों के बिना जो भासता है वह असत्य है। आत्मा अद्वैत और अच्युत है उसमें दोनों प्रकार की कारणता नहीं हो सकती। जैसे एक महाराजा स्वप्न में अपने को भिखारी देखे वह केवल भ्रम है तैसे ही इस जगत को भ्रान्ति रूप जानो।

११७८—हे राम जी ! रज्जु में सर्प की भ्रान्ति को कल्पित रूप लिखा है। जैसे कल्पित सर्प रस्सी को हानि-लाभ नहीं कर सकता, तैसे ही कल्पित (मिथ्या) जगत् के व्यवहार व आकार अधिष्ठान ब्रह्म की हानि व लाभ नहीं कर सकते। मन के फुरने से भय, शोक, चिन्ता भासता है। जब मन अफूर होता है सुषुप्ति में तो नहीं भासता। अविद्यक संसार भासता भी सत्य नहीं। इन्द्रजाली के रचे हुए पदार्थ प्रत्यक्ष भासते हैं पर वह यथार्थ में मिथ्या हैं। इसलिए उनके आकार व व्यवहार सब मिथ्या हैं तैसे ही इस सृष्टि को मिथ्या जानो।

११७९—सब भूत, भौतिक प्राणियों का आत्मा एक है। जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र एक और आकाश सब में एक पूर्ण है। तैसे ही ब्रह्मात्मा सब देह धारियों में अद्वैत पूर्ण है। जो विद्वान सब भूत प्राणियों में आत्मरूप भगवान को पूर्ण देखता है और भूत भौतिक सब जगत को ब्रह्मात्मा में कल्पित जानता है वह भक्तों में शिरोमणि है।

११८०—ब्रह्मात्मा से भिन्न जो स्थावर, जंगम (जड़-चेतन) रूप संसार भ्रम दशा में भासता है सबको वाध (झूठा) जानकर के स्वरूप में स्थित हो अर्थात् शुद्ध आत्मा में सब जगत् वास्तव में झूठा है।

११८१—जैसे सब भूषणों में स्वर्ण पूर्ण है (सत्य है) तैसे ही सब दृश्य ब्रह्मात्मा में कल्पित हैं, वास्तव में नहीं।

११८२—भ्रान्ति से भेद भासता है। श्रुति का कथन है कि दृश्यमान जगत् को मिथ्या जानने पर एक आत्मा निश्चय होता है। अर्थात् जीव ईश्वर और जगत् में भेद प्रतीत होते हुए भी वास्तव में ब्रह्म अद्वैत स्वयं प्रकाश है। अनेक प्रकार के भेद मायाकृत हैं।

११८३—जैसे सिनेमा के वस्त्र पर अश्व, हस्ती, गौ और मनुष्य आदि के आकार व व्यवहारों सहित भासते हैं। बुद्धिमान उन सबको कल्पित झूठे जानते हैं।

११८४—स्वप्न में भासते अनेक आकारों व व्यवहारों का प्रकाशक मैं एक हूं। स्वप्न सृष्टि के उदय, अस्त आदि सब विकारों के होने में साक्षी अच्युत्त (निर्विकार) मैं हूं। स्वप्न के चिदाभास सुख-दुःख के भोगता भासते हैं, मैं चैतन्य सबका ज्ञाता मुक्त हूं। स्वप्न राग-द्वेष सहित प्रतीत होते हुए भी मैं साक्षी स्वयं प्रकाश नित्य शुद्ध स्वरूप ब्रह्मात्मा हूं।

११८५—जैसे समुद्र में तरंगें उठती और लय होती हैं, परंतु उनकी उत्पत्ति व लय से रहित समुद्र अद्वैत है तैसे मुझ ब्रह्म में जगत की उत्पत्ति प्रलय आदि के सब व्यवहारों के प्रतीत होते हुए भी मैं नाश रहित केवल चैतन्यघन नित्य विद्यमान हूं।

११८६—भाव-अभाव व जड़-चेतन और नाम रूप आदि सब जगत को मिथ्या जानने पर ब्रह्मात्मा निश्चय होता है।

११८७—जो पदार्थ चक्षु से जाने जाते हैं और स्रोत कर सुने जाते हैं उन सब पदार्थों को मिथ्या निश्चय करके मुमुक्षु एक ब्रह्मात्मा की भावना करें तभी अधिकारी कृतकृत्य भाव को प्राप्त होता है।

११८८—उपासना आनन्द को तंग दिलवाला कभी नहींप ा सकता। जिसका दिल बादशाह नहीं, वह क्या जाने भक्ति रस को। बादशाह वह है जिसका अपने दिल के भीतर से एक लंगोटी के साथ भी दावा न हो।

११८९—जब तक नाम रूप समस्त संसार और विराट रूप समग्र जगत सम्यक् प्रकार से दान न कर दिया जाय और यज्ञ बलि में आहुति न कर दिया जाय तब तक अमृत चखने का मुँह कहां ? "सर्वं खल्विद ब्रह्म" रूपी ज्ञान की अग्नि में जगत् के

पदार्थ और उसकी कामना का विषद्कार (पूर्ण नाश) हो जाय तो साम्राज्य (स्वराज्य) की प्राप्ति में देर ही क्या है ?

११६०—जब तक पदार्थ में सत्ता दृष्टि है, या उसमें चित्त लगाये हुए हो, सिर पटक मारो वह पदार्थ कभी नहीं मिलेगा या सुखदायी होगा। जब वस्तुतः अथवा स्वाभाविक उस पदार्थ से दिल उठता अर्थात् आत्मारूपी अग्निकुण्ड में वह चीज पड़ती है, मन में यज्ञ हो जाता है तो स्वयं इष्ट पदार्थ हाजिर हो जाता है। हिमालय पवन की ठोकर से गेंद की तरह शायद कभी उछलने भी लग पड़े, परन्तु यह कानून बाल के बराबर कभी इतर नहीं हो सकता है।

११६१—"मैं ही हूं" जगत है ही नहीं। अगर जगत् की चीजें हैं तो केवल मेरा कटाक्ष मात्र है।

११६२—ईश्वर जिस पर खुश होता है उसे नदी की सी दानशीलता, सूर्य की सी उदारता और पृथ्वी की सी सहनशीलता प्रदान करता है।

११६३—प्रभु के मार्ग में प्राण तक देने की तैयारी न हो तो उसके प्रति प्रेम है ऐसा मानना ही नहीं चाहिये।

११६४—जब आप ईर्षा और द्वेष, छिद्रान्वेषण और दोषा-रोपण, घृणा और निन्दा के विचार अपने से बाहर किसी के प्रति भेजते हैं तो आप वैसे ही विचार अपनी ओर बुलाते हैं। जब कभी आप अपने भाई की आंख में तिनका खोजते हैं तभी आप अपनी आँख में ताड़ खड़ा कर लेते हैं।

११६५—कोई सांसारिक लहरें मेरे निश्चल चित्त को आन्दोलित नहीं कर सकतीं मुझे शत्रु से भय नहीं, मित्र से घृणा नहीं, मुझे मौत का डर नहीं, मुझे नाश का भय नहीं। भय मेरे भाग गये, शंकायें मेरी कट गईं, मेरी विजय प्राप्ति का दिन आ पहुंचा।

११९६—शरीर अनेक हैं, आत्मा एक है और वह परमात्मा मेरे सिवा और कोई नहीं। मैं ही कर्त्ता, साक्षी और न्यायाधीश हूं। मैं ही कर्कश, आलोचक और मैं ही प्रशंसक हूं। मेरे लिये प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है। वन्धन परिछिन्नता और दोष मेरी दृष्टि में आते ही नहीं। मैं मुक्त, परम मुक्त हूं और दूसरे लोग भी स्वतन्त्र हैं। ईश्वर मैं ही हूं, तुम भी वही हो, वह भी वही है।

११९७—जो कुछ प्रपंच तुमको भासता है सो सब अविद्या रूप है, कहीं अविद्या जलरूप हुई है, कहीं पहाड़, कहीं नाग, कहीं देवता, कहीं दैत्य, कहीं पृथ्वी, कहीं चन्द्रमा, कहीं सूर्य, कहीं तारे, कहीं तम, कहीं प्रकाश, कहीं तेज, कहीं पाप, कहीं पुण्य, कहीं स्थावर, कहीं मूढ़ रूप, कहीं अज्ञान से दीन और कहीं ज्ञान से आप ही क्षीण हो जाती है। कहीं तप दान आदिक से क्षीण होती है, कहीं पापादिक से वृद्धि होती है, कहीं सूर्य रूप होकर प्रकाशती है, कहीं स्थान रूप होती है, कहीं नरक में लीन है, कहीं स्वर्ग निवासी है, कहीं देवता होती है, कहीं कृमि होती है, कहीं विष्णुरूप होकर स्थित हुई है, कहीं ब्रह्मा होकर स्थित है, कहीं रुद्र है, कहीं अग्निरूप है, कहीं पृथ्वी रूप हुई है। और कहीं आकाश व कहीं भूत, भविष्य और वर्तमान हुई है। हे रामजी! जो कुछ देखने में आता है वह सब महिमा इसीकी है। ईश्वर से आदि तृण पर्यन्त सब अविद्या रूप है। जो इस दृश्य जाल से अतीत है उसको आत्मलाभ जानो।

११९८—जैसे बालक अपनी परछाईं में वैताल कल्प कर आप ही भय पाता है तैसे ही जीव अपने संकल्प से आप ही भयभीत होता है और संकट पाता है।

११९९—परमार्थ से द्वैत कुछ है ही नहीं, सब संकल्प रचना है।

१२००—जैसे मोर के अण्डे में नाना रंग भासते हैं तो भी एक रूप है, तैसे ही इस जगत् में भिन्न-भिन्न पदार्थ भासते हैं तो भी एक ब्रह्म सत्ता है, द्वैत कुछ नहीं। जिनकी अज्ञानरूपी दुर्दृष्टि है उनको अन उपजा ही जगत् नानात्व भासता है और जो अज्ञान दृष्टि से रहित है उनको एक ही ब्रह्म भासता है और कुछ नहीं भासता।

१२०१—ऐ संसारी लोगो! मत डरो, भय को छोड़ दो, क्योंकि यह मधुर सुख बास्तव में मिसरी रूप है, परन्तु भवें व्यर्थ चढ़ा लेता है। (अर्थात् ऊपर से कोप में आ जाता है और वह भी व्यर्थ।)

१२०२—मैं निरिन्द्रिय हूं। इसलिए रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्दादि विषयों के साथ मेरा सम्बन्ध भी नहीं है। अर्थात् मैं विकार रहित सत् चित् आनन्द रूप और अखण्ड शुद्ध चैतन्य हूं।

१२०३—जिस प्रकार कार्य रूप समस्त घट, शराव आदि पदार्थ कारण रूप मृत्तिका से भिन्न नहीं है किन्तु केवल भिन्न प्रतीति होती है। उसी तरह यह कार्यरूप समस्त जगत् उपादान रूप आत्मा ही है। आत्मा से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है इसलिए विवेकी पुरुष समस्त जगत् को अपनी आत्मा स्वरूप ही देखता है। तात्पर्य यह हुआ कि जगत् आत्मा से भिन्न प्रतीत तो होता है परन्तु वास्तव में भिन्न नहीं जैसे घट, शराब मृत्तिका रूप ही है वैसे समस्त जगत् आत्मरूप ही है।

१२०४—मैं एक अखण्ड आत्मा अपने से भिन्न किसी को कैसे देखूँ। देखूँ भी तो मेरी अखण्डता कैसे सुरक्षित रहे। जब सम्पूर्ण विषय ज्ञान का अभाव हो जाता है। जब अज्ञान में ही बुद्धि का विलय हो जाता है तो इसी को 'सुषुप्ति अवस्था' कहते हैं।

१२०५—इस दृश्य जगत् को जब हम देखते हैं तभी इसकी सिद्धि होती है। यदि इस दृश्य को कोई न देखे तो इसकी सिद्धि कैसे हो ? जीवात्मा कहाने वाले हम लोग यदि किसी ऐसी गुफा में जा बैठें कि जहाँ हमें अन्य कोई भी देख न सकता हो तो भी वहाँ हम स्वतः सिद्ध बने रहते हैं। वहाँ हमारी सत्ता के ज्ञान के लिये किसी की सहायता अपेक्षित नहीं होती। उस समय किसी प्रकार की भी बाह्य सहायता के विना वहाँ की मौन मुद्रा को भंग कर डालने वाला 'हूं' ऐसा शब्द हमारे मुँह से निकल ही पड़ता है। जो हमारी स्वतः सिद्धता को बड़ी दृढ़ता से सिद्ध कर देता है।

१२०६—इस दृश्य जगत् को सिद्ध होने के लिये क्रमशः (१) लौकिक सूर्यादि ज्योतियों, (२) चक्षु आदि इन्द्रियों, (३) मन आदि अन्तःकरणों तथा (४) सबके पश्चात् ज्ञाता आत्मा की परमावश्यकता होती है। यों यह दृश्य जगत् स्पष्ट ही दूसरों के आश्रय से सिद्ध हुआ करता है यदि किसी युक्ति से इस दृश्य जगत् को चारों प्रकाश न मिलें तो बताओ कि इसकी सिद्धि कैसे हो ?

१२०७—संसार का नाटक मैं देख रहा हूं। एक स्थान पर बैठकर भी देखा, अब यात्रा करके भी देख रहा हूं। असंख्य जन-समूह और उनके नेता, दोनों एक ही प्रभाव में खिचते चले जा रहे हैं। यह देखकर ईश्वर की ही लीला का चिंतन करे, दूसरा कुछ चिंतन न करे। ऐसा लगता है।

१२०८—मैं आत्मा का रूप हूं, मुझमें जन्म कहाँ ? और मरण कहाँ ? इनका चिन्तन भी हमारा कर्तव्य नहीं, इसी निश्चय का नाम मोक्ष है।

१२०९—मैं सत् चित् आनन्द ब्रह्म रूप हूं, मुझमें सांसारिक दुःख का किंचित मात्र लेश भी नहीं है।

१२१०—एक भी ब्रह्म है, द्वै भी ब्रह्म है, मोह भी ब्रह्म है, अमोह भी ब्रह्म है, सम भी ब्रह्म है, असम भी ब्रह्म है, दोष भी ब्रह्म है, गुण भी ब्रह्म है, दम भी ब्रह्म है, विभु भी ब्रह्म है, प्रभु भी ब्रह्म है, लोक भी ब्रह्म है, गुरु भी ब्रह्म है और शिष्य भी ब्रह्म ही है। वस्तुतः निश्चय करके यह समस्त जगत् ही ब्रह्ममय है।

१२११—सुख-दुखादि पाँच इन्द्रियों के विषय हैं।

१२१२—हम सबकी फिक्र करने वाला ईश्वर बैठा है। तब यह बोझा व्यर्थ ही हम क्यों ढोते फिरें? हमें तो अपने हिस्से आया हुआ काम करते रहना है।

१२१३—स्थावर-जंगम जगत् के हम पिता हैं। हम उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं।

१२१४—जो जिससे भय करता है उसीको प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, चाहे ईश्वर हो, गुरु हो या कोई सांसारिक सम्बन्धी हो अथवा देवता हो।

१२१५—मरे हुए शरीर को जैसे इच्छा या द्वेष नहीं होता, सुख-दुःख नहीं होता, वैसे जो जीवित रहते हुए भी मृत समान जड़ भरत की भाँति देहातीत रह सकता है वह संसार विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुख को जानता है।

१२१६—गुणातीत के लक्षण—जो मनुष्य अपने पर जो आ पड़े, फिर भले ही प्रकाश हो या प्रवृति हो या मोह हो, ज्ञान हो, गड़बड़ हो या अज्ञान हो, उसका अतिशय दुःख या सुख न माने या इच्छा न करे, जो गुणों के बारे में तटस्थ रहकर विचलित नहीं होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते हैं, यह समझकर जो स्थिर रहता है, जो सुख-दुःख को सम मानता है, जिसे लोहा, पत्थर या सोना समान है, जिसे प्रिय-अप्रिय की बात नहीं है, जिस पर अपनी स्तुति या निन्दा कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, जिसे मान-अपमान समान है, जो शत्रु-मित्र के प्रति सम भाव

रखता है, जिसने सब आरम्भों का त्याग किया हैं वह गुणातीत कहलाता है ।

१२१७—भक्त के लक्षण— भक्त किसी से द्वेष न करे, किसी के प्रति बैरभाव न रखे, जीवमात्र से मैत्री रखे, जीवमात्र के प्रति करुणा का अभ्यास करे । ऐसा करने के लिये ममता छोड़े, अपना मिटाकर शून्यवत हो जाय, दुःख-सुख को समान माने, कोई दोष करे तो क्षमा करे (यह जानकर कि स्वयं अपने दोषों के लिये संसार क्षमा का भूखा है) सन्तोषी रहे, अपने शुभ निश्चयों से कभी विचलित न रहे । मन, बुद्धि सहित सर्वस्व अर्पण करे । उससे लोगों को उद्वेग नहीं होना चाहिये, न लोग उससे डरें, वह स्वयं लोगों से न दुःख माने न डरे, मेरा भक्त हर्ष, शोक, भय आदि से मुक्त होता है, उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, वह पवित्र होता है, कुशल होता है, बड़े-बड़े आरम्भों को त्यागे हुए होता है, निश्चय में दृढ़ होते हुए भी शुभ और अशुभ परिणाम दोनों का वह त्याग करता है अर्थात् उसके बारे में निश्चित रहता है । उसके लिए शत्रु कौन और मित्र कौन ? उसे मान क्या और अपमान क्या ? वह तो मौन धारण करके जो मिल जाय उससे सन्तोष रखकर एकाकी भांति विचरता हुआ सब स्थितियों में स्थिर होकर रहता है । इस भांति श्रद्धालु होकर चलने वाला मेरा भक्त है ।

१२१८—निश्चय ही सम्पूर्ण दृश्य जगत् तुझ से अभिन्न है । इसीलिये मत डर, उपनिषदों में स्थित अनुभव स्वरूप भूमा को आत्मा जान ।

१२१९—निन्दा-स्तुति और मान-अपमान से तुझ समदर्शी को क्या करना है । कुछ नहीं, लोक अपनी इच्छानुसार कार्य किया करे, तेरी क्या हानि है, कुछ नहीं ।

१२२०—इस सम्पूर्ण जगत् को जल के बुलबुले के समान जानकर तू आत्मा में टिक। तुझ अद्वैत देखने वाले को शोक कहां ? मोह कहां ?

१२२१—नेत्र खोलने और बन्द करने से सम को साधारणतः यह भान होता है कि "सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि सब पदार्थ मैं घेरे हुए हूं। मैं उनको जीवन शक्ति और उद्योग प्रदान करता हूं। मैं उनका आधार और आश्रय हूं। मैं परम आत्मा हूं। एक अवस्था यह है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर आप देखेंगे कि सम्पूर्ण घृणा, द्वेष वा भय दूर भाग जाता है।

१२२२—जब आप कहते हैं कि अमुक मनुष्य राग वा प्रेम कर रहा है तब यथार्थ में वह सारे संसार से द्वेष कर रहा है। जब आप किसी विशेष वस्तु से स्नेह करते हैं, तब अपने को अखिल विश्व से आप अलग कर लेते हैं।

१२२३—मैं सर्वरूप हूं। इस तरह सब स्नेहों वा असक्तियों को धीरे धीरे छोड़ने को कहकर वेदान्त तुम्हें समस्त मानव जाति का हितैषी बनाना चाहता है।

१२२४—एक मनुष्य तुम्हें सज्जन कहता है वह तुम्हें परिछिन्न करता है। दूसरा मनुष्य तुम्हें दुर्जन कहता है वह भी तुम्हें परिछिन्न करता है। एक दूसरा तुम्हारी खुशामद करता है या स्तुति करके तुम्हें फुला देता है वह भी तुम्हें सीमाबद्ध करता है। दूसरा तुम्हारी निन्दा करता है वह भी तुम्हें परिमित करता है और बांधता है। भाग्यशाली है वह पुरुष जो इन प्रत्येक बन्धन के विरुद्ध खड़ा होकर अपने दैवत्व, अपने ईश्वरत्व का निरूपण करता है। जो मनुष्य अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव कर लेता है। जो मनुष्य सारे संसार के सामने तथा अपने इर्द-गिर्द अन्य सब लोगों के सामने निडर खड़ा होकर अपने ईश्वरत्व का निरूपण कर सकता है और ईश्वर से

अपनी अभेदता पहचान सकता है। जिस क्षण तुम अपने ईश्वरत्व को जतलाने के लिये खड़े होने को तैयार होते हो, उसी क्षण सारा संसार तुम्हें ईश्वर मानने को बाधित होता है। सारी सृष्टि तुम्हें परमात्मा अवश्य मानेगी।

१२२५—ये स्थूल भौतिक पदार्थ रूप में भौतिक तत्व इन्द्रियों के भ्रान्ति के सिवाय और कुछ नहीं है। इन नाम मात्र तत्वों और रूपों पर जो भरोसा करता है उसे कभी सफलता नहीं होती। रूपों और परिछिन्न भावों पर निर्भर रहना कभी सफलता न लायेगा। सूक्ष्म सिद्धान्त अर्थात् सत्य पर निर्भर रहना सफलता की कुँजी है, उसे ग्रहण करो, अनुभव करो, भान वा निदिध्यासन करो और उसका व्यवहार करो। फिर ये नाम, ये तत्व, ये रूप और रेखा तुम्हें खोजते फिरेंगे।

१२२६—सारी दुनिया एक बड़े ठोस पदार्थ के समान है और तुम्हारा शरीर इस दुनिया रूपीं मेज का एक कोना या बिन्दु है। यदि आप इस अकेले बिन्दु को पकड़ते हैं, यदि आप इसे उठाकर तान दें, यदि आप इसे ईश्वर कहें, यदि आप इसे परमात्मा समझें, यदि यह अकेला बिन्दु ईश्वर में मानो समा जाय तो सारी दुनिया खिच जायगी, सारी दुनिया सरक जायगी, क्योंकि सारा संसार मेज की तरह ठोस पदार्थ है, अपने व्यक्तित्व को तान दीजिये और आप सारी दुनिया को तान दीजिये। संगठनों में, या बड़ी बड़ी संस्थाओं में, महान मठ, मन्दिरों और उनके प्रचारक दलों में भरोसा करना बड़ी ही मूर्खता है और भयंकर भूल है। निस्सन्देह यह भयंकर भूल है।

१२२७—शंकराचार्य ने कोई जत्था बनाया था? नहीं, बेचारा अकेला ही रहा। प्रत्येक प्राणी को अवश्य अकेले रहना चाहिये। अकेले खड़ा होना चाहिये। हर एक को अपने भींतर परमेश्वर का बोध और साक्षात्कार करना चाहिये।

१२२८—बाहरी मदद पर कभी भरोसा मत करो। केवल अपने पर वा अपनी अन्तरात्मा पर भरोसा यही आवश्यकता है और कुछ नहीं।

१२२९—जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सदा निर्भय, निश्‍चिंत रहता है, वह पुरुषार्थी पुरुष है।

१२३०—सुख का रहस्य यह है—"जितना ही तुम चीजों को ढूँढ़ते हो, उतना ही तुम उन्हें खोते हो।" जितना ही आप कामना से परे होते हैं उतना ही आप अपने को आवश्यकता से भी परे पाते हैं, उतना ही भौतिक पदार्थ आपका पीछा करता है।

१२३१—आनन्द से ही सब कुछ की उत्पत्ति, आनन्द में ही सबकी स्थिति और आनन्द में ही सबकी लीनता देखने से आनन्द की पूर्णता का अनुभव होता है।

१२३२—प्रतिकूल परिस्थितियों में तथा विपत्ति में धैर्यपूर्वक, निर्भय तथा निश्‍चित रहकर अपना कर्त्तव्य पालन करते रहने में ही आस्तिक बुद्धि का परिचय है।

१२३३—ज्ञानी सदा अभय तथा निश्‍चिंत नित्य अपने आप में तृप्त, शांत एवं गम्भीर रहता है। जो हर्ष, शोक, लाभ, हानि, संयोग, वियोग, सम्मान तथा अपमान के अवसर पर सम एवं अचञ्चल रहता हो, जो सत्य वस्तु को जानता हो, वह असत् वस्तु का लोभी, मोही, अभिमानी नहीं रहता। वह दूसरों के शोक को हर लेता है। ज्ञानी क्षमा करने में वीर होता है।

१२३४—यह जगत् मानसिक सृष्टि है। यह संस्कार मात्र है। निद्रा में कोई संस्कार नहीं। यदि मन है तो जगत् भी है। राग-द्वेष के दो प्रवाह मन के जीवन को बनाये रखते हैं। यदि दोनों प्रवाहों को विनष्ट कर दिया जाय तो मन मृत्यु को प्राप्त करेगा। इसे मनोनाश कहते हैं। जिस योगी को मनोनाश की प्राप्ति है वह जगत् का अनुभव नहीं करता।

१२३५—जिस प्रकार सर्प भ्रान्ति के विलीन होने पर रज्जु को देखता है, उसी प्रकार जगत एवं शरीर की भ्रांति के विलुप्त होने पर तुम ब्रह्म को हीं देखोगे।

१२३६—जन्म मृत्यु न त्ते चित्तम् बंध मोक्षौ शुभाशुभौ।
कथम रोदिसि रे वत्स नामरूपम् न तेन में।

(हे शिशु, तुम क्यों रोते हो? तुम में नाम रूप तो है ही नहीं?) न तो बंधन है और न मुक्ति न शुभ है न अशुभ! उठो, वद्धपरिकर बनो! मन तथा इन्द्रियों से संग्राम करो तथा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में निवास करो। नाम रूप नहीं है, यह संसार तुम में नहीं है। यह तो संकल्प मात्र है।

१२३७—मैं तो अवश्य अविनाशी, अनन्त, असीम, शुद्ध विज्ञान, विग्रह, शुद्ध चैतन्यघन, प्रज्ञानघन, आनन्दघन हूं। मैं तो जानता ही नहीं कि सुख क्या है? और दुःख क्या है?

१२३८—तुम में मानसिक कर्म नहीं है, शारीरिक कर्म तुम में नहीं है, वाणी सम्बन्धी कर्म तुम में नहीं है। शुद्ध अमृत इन्द्रियों के पहुंच से परे यही तुम्हारी ईश्वरीय तथा ब्राह्मी स्वरूप है।

१२३९—वेदान्तसार सर्वस्वम्, ज्ञान विज्ञान मे वच।
अहमात्मा निराकारः सर्वव्यापी स्वभावतः॥

(मैं सर्वव्यापी निराकार आतमा हूं। तुम इस वाक्य पर ध्यान कर सकते हो?)

१२४०—यह जगत् दर्पण के समान है। यदि तुम मुसकराते हो तो यह भी मुसकराता है। यदि तुम त्यौरी चढ़ाते हो तो यह भी वैसा ही करता है।

१२४१—कभी निराश न बनो, बढ़ते चलो। दूसरों की मान हानि न करो। धैर्य आत्म साक्षात्कार की कुन्जी है। सारी

सृष्टि ही मेरा परिवार है। अहिंसा बीरता की पराकाष्ठा है।

१२४२—संसार तो अपने अन्दर है, बाहर तो उसका प्रतिबिम्ब मात्र है। तेरे ही प्रकाश से यह सब प्रकाशित है और तेरे सो जाने पर संसार का भी प्रलय हो जाता है।

१२४३—कर्मयोग की विधि—मनुष्य से कर्म नहीं चिपकता। कारण की कर्म जड़ है। जड़ वस्तु चेतन से चिपक नहीं सकती। हाँ, चेतन ही उसे चिपका ले तो दूसरी बात है। कर्म हम करते हैं न कि कर्म हमें करता है। भगवान कहते हैं कि कर्म मुझे नहीं चिपकते, क्योंकि कर्म फल में मेरी स्पृहा नहीं है।

१२४४—कर्म को विकर्म बना दो तो कर्म भार रूप नहीं होता अर्थात् जो कर्म करते हो उसमें मन मिला दो। कर्म में मन के मिल जाने पर विकर्म बन जाता है। भार शरीर को नहीं लगता, मन को लगता है। जब किसी कर्म में हमारा मन नहीं लगता तभी वह कर्म हमें भार रूप प्रतीत होता है।

१२४५—विकर्म करते करते हम अकर्म अवस्था में पहुंच जायेंगे। जहां पहुंच जाने पर विकर्म भी अकर्म बन जायगा। हम सब कुछ करते हुए भी अकर्म ही रहेंगे। हमारा कर्त्तापन का अभिमान ही गल जायगा। अभिमान उसी कर्म का होता है जो कर्म हमसे कभी कभी हुआ करता है। हम निरन्तर स्वांस लेते रहते है अतः मैं निरन्तर स्वांस लेता हूं ऐसा अभिमान नहीं रहता। पर आसक्ति तो शेष रह जाती है। कोई हमारा स्वांस बन्द कर दे तो तड़फड़ाने लगेंगे। यह आसक्ति भी जनता जनार्दन की सेवा में समर्पित कर देने से दूर हो जाती है।

१२४६—हम व्याकुल क्यों होते हैं ? इसलिए कि अमुक वस्तु हमें मिलनी चाहिये। ऐसा क्यों होता है स्वार्थ के कारण। स्वार्थ क्यों होता है ? राग से। राग क्यों होता है ? अज्ञान से। अज्ञान क्या है ? उस वस्तु को अपने से भिन्न जानना।

१२४७—कर्मयोगी गंगा की तरह कर्म करता है और ज्ञानी हिमालय की तरह। अर्थात् पशु के कर्म में क्रिया की प्रधानता होगी है और ज्ञानी के कर्म में ज्ञान की प्रधानता होती है या ज्ञान ही ज्ञान होता है और मनुष्य के कर्म में भाव की प्रधानता होती है।

१२४८—जिस क्षण पुरुष सब भूतों को एक में ही स्थित देखता है और उसी एक में से सब भूतों का विस्तार देखता है। उसी क्षण वह ब्रह्म बन जाता है। (देर नहीं लगती)।

१२४९—जब हम किसी से ऊब जाते हैं तब हम उसीकी निन्दा करने लगते हैं या उसका तिरस्कार कर बैठते हैं अथवा उससे घृणा आदि व्यवहार करते हैं।

१२५०—जिसकी दृष्टि में आत्मा ही सब भूत हो रहा है। उस निरन्तर एकत्व देखने वाले विज्ञानी पुरुष को मोह कहां ? शोक कहां ? दूसरे सब भूत आत्मा हो गये। दोनों एक ही हैं।

१२५१—सब भूतों में मैं और मुझ में सब भूत ऐसा विशालतम मातृ हृदय उसे मिल जाता है। क्या मां अपनी सन्तान से ऊबती है ? मां क्यों खाती है ? अपने बच्चे की पुष्टि के लिये। बच्चे की भूख मां को लगती है न कि बच्चे को। बीमार बच्चा होता है उसका दर्द होता है माता के हृदय में। क्योंकि मां बच्चे में अपने को देख रही है और अपने में बच्चे को, यहां ऊबने-वाबने का प्रश्न ही कैसा। ऊब जाता है किसी दूसरे से। वाह्य द्वैत रहने पर भी हृदय में अद्वैत हो गया।

१२५२—अपने आप पर प्रेम होता है और दूसरे पर मोह। जो किसीका नहीं होता, वही सबका होता है और जो सबका होता है वह किसी का नहीं होता।

१२५३—सन्त महात्मा की देह को ही न पूजते रहो, उसकी

बुद्धि में जो ज्ञान प्रकाशित है, उसमें जो दैवी गुण हैं उनकी उपासना करो।

१२५४—भगवान को अपने से भिन्न न मानो, यही प्रेम है।

१२५५—यदि तुम आस्तिक हो तो सदा प्रसन्न, निर्भय, निश्चिन्त रहना चाहिये और सबको भी रखना चाहिये।

१२५६—संसार में आत्म स्वरूप से सभी अभिन्न है, कोई दूसरा है ही नहीं, इस प्रकार स्वरूप की एकता का बोध होने पर भेदभाव का अभिमान दूर होता है।

१२५७—दुःख में धैर्यपूर्वक प्रसन्न और संकट के समय स्थिर बुद्धि द्वारा विवेक से काम लो, मृत्यु के प्रति अभय रहो।

१२५८—भगवान सदा मेरे साथ है। मैं सब भयों से मुक्त हूं। भगवान की उपस्थिति भय के अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देती है और मैं सदा प्रकाश में रहता हूं। जब मैं शान्त भाव से कहता हूं कि भगवान ही एक मात्र मेरा आश्रय है तब मैं किसी भी स्थिति में विचलित नहीं होऊँगा और बाहरी भय, प्रतिकूलतायें एवं कठिनाइयां तत्क्षण विलीन हो जाती हैं।

१२५९—मैं सदा भगवान के साथ हूं। जब मैं भगवान की सन्निधि को अनुभव करता हूं तब अपने को पूर्ण स्वतंत्र, समस्त भयों और प्रतिकूलताओं से सर्वथा मुक्त पाता हूं। मेरा जीवन विस्तृत एवं अभाव रहित है और मेरा हृदय भगवदीय प्रेम से भरा है। मैं कभी भी अपने को दुःखी या अकेला अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि भगवान मेरे सदा साथ हैं।

१२६०—जैसे स्वप्न द्रष्टा ही सर्व स्वप्न पदार्थों की रक्षा, नाश कर्त्ता है, अन्य जाग्रत पुरुष भी नहीं करते तथा स्वप्न पदार्थ भी आपस में रक्षक नाशक नहीं होते।

१२६१—स्वप्न में स्वप्न द्रष्टा ही सर्व रूप है वैसे ही जाग्रत में जाग्रत द्रष्टा ही सर्वरूप है।

१२६२—गुप्त और प्रकट सर्वत्र एक नारायण ही है। जब सब नारायण है तो भय किससे होवे, भय दूसरे से होता है। जैसे जहाँ सर्व अग्नि ही अग्नि हो, दूसरी काष्ठादि वस्तु न होवे तब अग्नि किसीको जलावे, अग्नि अग्नि को दाह करता ही नहीं। जैसे महात्मा ध्रुव सूक्ष्म और स्थूल परिछिन्न अहंकार को त्याग कर "अपने सहित सब नारायण है" ऐसा देखने लगा। इस दृढ़ भावना के कारण "अग्नि आदि सर्व जगत नारायण ही है" ऐसा देखने लगा, अब उसको भय, मोह कहाँ से होवे।

१२६३—हमारा हमको नमस्कार है। हमको ही सब दृश्य नमस्कार करता है। हमारी ही जय है। जैसे स्वप्न द्रष्टा को ही स्वप्न सृष्टि नमस्कार करती है। स्वप्न द्रष्टा बिना स्वप्न सृष्टि सिद्ध ही नहीं होती। यही नमस्कार है। तद्वत् इस मिथ्या नाम रूप प्रपंच के हम ही पूज्य हैं।

१२६४—यह सर्व जगत् नेत्रों के खोलने से उत्पन्न होता है। यदि फुरणमात्र जगत् नहीं होता तो सुषुप्ति में भी प्रतीत होना चाहिए। परन्तु नेत्र मूंदने से मिट जाता है। इससे मिथ्या है और मिथ्या को सिद्ध करने वाला तू चैतन्य सत्ता है।

१२६५—यह सर्व नाम रूप जगत् मैं ही हूं। मुझ चैतन्य के बिना न कोई हुआ है न होगा, मुझ चैतन्य की ही सर्व उपासना, प्रार्थना तथा पूजा करते हैं, मैं ही चैतन्य सबको कर्मों के अनुसार फल देता हूं।

१२६६—एक आत्मा चैतन्य मैं हूं, द्वैत है ही नहीं, तब निःसंशय तद्रूप होगा। जब सर्व मैं ही हूं तो सुख-दुःख कहाँ है और भय, शोक, चिन्ता कहाँ है ? जो दृश्य मात्र जगत है सो स्वप्न समान है।

१२६७—जिस पदार्थ को मन देखता है वह पदार्थ पूर्व कोई नहीं, चित्त के फुरने से उदय होता है। जब चित्त फुरा कि यह

पदार्थ है तब आगे पदार्थ हुआ और फुरने से रहित होकर देखे तो पदार्थ कोई नहीं भासता। केवल शान्त पद है।

१२६८—जो सच्चे प्रेमी हैं वे दुनिया की परवाह नहीं करते कि दुनिया हमारे प्रतिकूल है या अनुकूल वे तो केवल सत्य को ही अपने लिये अच्छा समझते हैं।

१२६९—माता, पिता, वृद्धों और अतिथियों की सेवा तन, मन, धन से करो। हाँ, यदि ऐसा करने से ईश्वर या सच्चाई के मार्ग में रुकावट हो तो इसके विपरीत कर सकते हो। परन्तु इस बात का निश्चय ब्रह्मवेत्ता महात्मा से कर लेना चाहिए।

१२७०—"मैं एक ही ईश्वर अनेक रूप हूं" जैसे स्वप्न द्रष्टा एक ही अनेक रूप होता है इससे यह सृष्टि ज्योति रूप ईश्वर ही है। जैसे सूर्य की किरणें सूर्य स्वरूप हैं। जब सर्वरूप ईश्वर ही पूर्ण हुआ तो आपको तिससे भिन्न शरीर का जीव मानना केवल अज्ञान है।

१२७१—जो पदार्थ चक्षु से जाने जाते हैं और श्रोत्र कर सुने जाते हैं, उन सब पदार्थों को मिथ्या निश्चय करके मुमुक्षु एक ब्रह्मात्मा की भावना करे तभी अधिकारी कृतकृत्य भाव को प्राप्त होता है।

१२७२—सब एक ही है। एक को भला और एक को बुरा ईश्वर रूप आत्मा विषे कैसे गिनिये। मूल विषे मनुष्य पशु-स्थावर जंगमादि विचारवान् को सम है भेद नहीं। व्यवहारिक जो लघु, दीर्घ, नीच, ऊँचादि भेद भासता है, सो फल कर्मों का है और अपने मूल के अज्ञान से भासता है। जैसे वृक्ष के शाखा, पत्र, फल, फूल का जो भेद भासता है सो मूल के अज्ञान से भासता है। जैसे स्वप्न पदार्थों का जो भेद भासता है सो स्वप्न द्रष्टा के अज्ञान से भासता है। स्वप्न द्रष्टा की दृष्टि से नहीं।

१२७३—संस्कार ही पदार्थ रूप बनकर बाहर दीखता है। फिर वही पदार्थ संस्कार रूप होकर हृदय में स्थित हो जाता है। जैसे बीज से अंकुर पैदा होता है और अंकुर से बीज फिर बीज से अंकर पैदा होता है। उसी प्रकार संस्कार से पदार्थ व पदार्थों से संस्कार होते चले जाते हैं।

१२७४—जैसे समुद्र सर्व तरंगों को अपने में सदा प्राप्त देखता है। पुनः स्वतः प्राप्त जो लहरें हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए यत्न नहीं करता है। वैसे ही ज्ञानवान पुरुष चौदह लोक के भोग पदार्थ अपने स्वरूप समुद्र में तरंगवत् सदा प्राप्त देखता है। ज्ञानी पुरुष उत्पत्ति और नाश होने वाले पदार्थों को कल्पित असार जानता हुआ किसी वस्तु की राग से दृढ़ इच्छा नहीं करता।

१२७५—देवता, दैत्य, मनुष्य, पशु, पक्षी, आदिक सर्व जगत स्वप्नमय है। स्वप्न में राजा-महाराजा, राज्य कर रहे हैं। स्वप्न में ही जन्म-मरण होता है। स्वप्न में लड़ाई-झगड़े हो रहे हैं। स्वप्न में ही संयोग तथा स्वप्न में ही वियोग होता है। धनी लोग स्वप्न में ही कंगाल तथा स्वप्न में ही कंगाल धनी हो रहे हैं। स्वप्न में ही सोना जागना है जैसे इन्द्रजाल का तमाशा मनोराज्य की रचना होती है वैसे ही समस्त संसार मिथ्या है।

१२७६—हे राम जी ! एक कवच तुमसे कहता हूं, उसको धारण करके विचारो तो, यद्यपि अनेक शस्त्रों की वर्षा हो तो भी तुझे दुःख नहीं होगा। "जो कुछ देखता है, सुनता है" उसे सब ब्रह्म जान और बारम्बार यही भावना कर कि ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जब ऐसी भावना दृढ़ करेगा तब कोई शस्त्र छेद न सकेगा यह ब्रह्म भावना ही कवच है। जब इसको तू धारेगा तब सुखी होगा।

१२७७—तू चैतन्य आत्मा नित्य मुक्त स्वरूप है। भ्रमकर आपको न जान के मुक्ति की आशा औरों से करता है। अनेक कर्म उपासनादि का भ्रम से क्लेश सहता है। ऐसा भ्रम करता है कि गुरु, शास्त्र, ईश्वर मेरी मुक्ति करेगा तो होगी, यह नहीं जानता कि मुझ नित्य मुक्त चैतन्य साक्षी आत्मा की स्वप्नवत् गुरु, शास्त्र, ईश्वरादि सर्व संसार कल्पना है। मैं नहीं कल्पूं तो कहाँ है।

१२७८—जो विश्व ही असत है तो भय और शोक किसका करता है। न कोई जन्मता है न मरता है, न सुख है, न दुःख है, ज्यों का त्यों आत्मा स्थित है।

१२७९—किसी दृश्य पदार्थ को सुखदायी न जान और दुःखदायी भी न जान। सुख और दुःख दोनों मिथ्या हैं।

१२८०—ज्ञानी लोग नेत्र से आकाश का रूप देखने पर भी अन्तःकरण में उसको रूपहीन करके समझते हैं। उसी प्रकार इन्द्रियों से जगत् के रूप आकार आदि दर्शन करने पर भी उसकी आत्मस्वरूपता ही अन्तःकरण में उपलब्धि करते हैं। जिस तरह मिट्टी के साँप, बाघ आदि किसी को डरा नहीं सकते, वैसे ही आत्मामय जगत ज्ञानी को मुग्ध करने में समर्थ नहीं होता। जो लोग संसार को सत्य मानते हैं वही उसमें मुग्ध होते हैं।

१२८१—यदि तुम सर्वांग पूर्ण जीवन का आनन्द लेना चाहते हो तो कल की चिन्ता छोड़ो। तुम अपने चारों ओर जीवन के बीज बोओ। भविष्य में सुनहरे सपने देखने की आदत बनाओ। सदैव के लिए मन में यह बात बैठा लो कि तुम्हारा कल अत्यन्त प्रकाशमय, मधुर और आनन्दमय होगा। कल तुम अपने को आज से भी सौभाग्यशाली पाओगे। मुझे अपने कार्यों में कल और अधिक सफलता प्राप्त होगी। कल वह समय आवेगा, जब मेरा मन उत्पादक शक्ति से भर जायगा और मेरा जीवन ऐश्वर्य से परिपूर्ण हो जायगा। कल पर मुझे पूर्ण विश्वास है। मुझमें

इतनी शक्ति है कि विघ्न-वाधायें डर कर दूर भाग जायेंगी। कल मैं आज से भी अधिक प्रसन्न रहूंगा। ऐसी विचारधारा से निश्चय ही परम कल्याण होगा। जब तक तुम इसे पूर्ण रूप से ग्रहण न कर लो तब तक निरन्तर जाप करते रहो। तुम्हारे संशय उड़ जायेंगे और कल की चिन्ता नहीं सतायेगी।

१२८२—आत्म-शक्ति जाग्रत करने के लिए संकेत—मैं अकेला होते हुए भी शक्तिशाली हूं। मेरे अन्दर वह शक्ति है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकती है। मैं दूसरों का अनुगामी न बनूंगा। मैं कभी दूसरों का अनुकरण न करूँगा। मैं अपनी महत्ता और प्रतिभा का प्रभाव दूसरों पर डाल सकता हूं। सच्ची शक्ति मेरे भीतर विद्यमान है। मुझे अपनी शक्तियों पर पूरा भरोसा है। मैंने अकेले ही सफलता प्राप्त करने की दृढ़ प्रतिज्ञा की है। मेरी प्रतिज्ञा दृढ़ है और अटल है। उसे भगवान अवश्य पूर्ण करेंगे। अकेलेपन से भयभीत मत हो। आपकी शक्ति और सुख आप में ही है।

१२८३—जो दूसरों का सहारा चाहते हैं, जो सदा एक न एक अगुआ ढूँढ़ा करते हैं, उनसे मैं कहूंगा–ओ थोथी विचार वाले हलके मनुष्यो! तुम अपनी अन्तरात्मा के हृदय में स्थित परमेश्वर के दृढ़ आश्रय को ढूंढ़ो, उसी पर डटे रहो, उसी पर विश्वास लाओ, उसी का सम्मान करो।

१२८४—मृत्यु के लिये सदैव तैयार रहना ही निर्वाध सुखी रहने का उपाय है।

१२८५—मैं अभय हूं, मैं बलवान हूं, मैं साहसी हूं, मैं आरोग्य हूं, मैं आनन्दमय हूं, मैं ज्ञान हूं, मैं विजय हूं, मैं सफलता हूं, मैं प्रेम हूं, मैं सच्चिदानन्द हूं और नित्य मुक्त स्वभाव वाला हूं। ऋद्धि, सिद्धि, विजय, लक्ष्मी मेरी दासी हैं। मैं सर्व शक्तिमान हूं। यह एक आतमावादी का आतमा प्रेरक चार्ट है।

१२८६—यदि आप रोग और व्याधि से मुक्त रहना चाहते हैं तो हल्की मुसकराहट को स्वभाव का स्थायी अंग बना लीजिये। जो मुसकराते हुए जीवन व्यतीत करेगा, उसका जीवन उतना ही मधुरता से परिपूर्ण होगा।

१२८७—रोग विनाशकारी भावना—प्रति दिन प्रातः सायं १५ मिनट के लिये शान्त चित्त निर्विकार निश्चिन्त होकर बैठ जाइये और आरोग्य, आनन्द, सुख, शान्ति प्रदान करने वाली विचारधारा में रमण कीजिये। बीमारी के विचार हटाकर निम्न भावना पर मन को दृढ़ता से एकाग्र कीजिये—मेरे भीतर आरोग्य एवं आनन्द का अनन्त स्रोत प्रवाहित हो रहा है। मेरे अन्तराल में दिव्यामृत का महासागर है। मैं अनुभव कर रहा हूं कि सारा सुख, आरोग्य, स्वास्थ्य और शक्ति मेरे भीतर हैं। मेरे मन में अनन्त शक्ति और सामर्थ्य है। मैं स्वस्थ हूं, पूर्ण प्रसन्न हूं, आनन्दित हूं। परमात्मा का दिव्य प्रकाश मेरे भीतर-बाहर सर्वत्र फैला हुआ है। मैं विक्षेप रहित हूं। सब द्वन्द्वों से मुक्त हूं। आनन्दमय हूं। स्वर्गीय सुख मेरे भीतर है। मेरा हृदय परमात्मा का गुप्त प्रदेश है। जहाँ परमात्मा का निवास है, वहां रोग-शोक क्योंकर ठहर सकता है ? मैं दैवी ओज के मण्डल में प्रविष्ट हो गया हूं। यहां परमात्मा का गुप्त प्रदेश मेरे आरोग्य और स्वास्थ्य का प्रदेश है। मैं पूर्ण स्वस्थ हूं। तेज से परिपूर्ण हूं। शक्ति का पुञ्ज हूं। परम सामर्थ्यवान हूं। मेरे अंग अंग में शांति का निवास है। मैं मन की चंचलता, बीमारी की कल्पना से सर्वथा मुक्त हूं। स्मरण रखिये स्वास्थ्य, सुख, आनन्द, शान्ति सब आप के अन्तःकरण में ईश्वरीय वरदान के रूप में विद्यमान है। अपने अन्तःकरण की ध्वनि सुनकर निशंक जीवन व्यतीत कीजिये। अपने अन्दर जो कल्पित रोग के विचार हैं, उन्हें निकाल दीजिये। अपने प्रत्येक विचार, भाव, शब्द और कार्यों

को ईश्वरीय शक्ति से परिपूर्ण रखिये। आरोग्य लाभ करने का इससे उत्तम दूसरा मार्ग नहीं है।

१२८८—हँसो और सम्पूर्ण संसार तुम्हारे साथ हँसेगा। रोओ, किन्तु तुम्हारे साथ रोने वाला कोई न मिलेगा। वास्तव में संसार आपको तभी पसन्द करता है जब आप हँसते मुसकराते हैं।

१२८९—कल्याण प्राप्ति की नई युक्तियां—प्रतिदिन नियमपूर्वक एकान्त में बैठकर मन से सम्पूर्ण संसार को भूल जावे। इस प्रकार संसार को भुला देने से केवल एक चैतन्य आत्मा शेष रह जायेगा तब उस चैतन्य स्वरूप का ध्यान करे। ध्यान करने से समाधि हो जाती है और मुक्ति हो जाती है।

१२९०—आनन्दमय का अभ्यास—आनन्द परमात्मा का स्वरूप है। चारों तरफ, बाहर-भीतर आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है। सारे संसार में आनन्द छाया हुआ है। यदि ऐसा दिखलाई न दे तो वाणी से केवल कहते रहो और मन से मानते रहो। जल में डूब जाने, गोता खा जाने के समान निरन्तर आनन्द ही में डूबा रहे और गोता लगाता रहे। रात दिन आनंद में मग्न रहे। किसी की मृत्यु हो जाय, घर में आग लग जाय अथवा और भी कोई अनिष्ट कार्य हो जाय तो भी आनन्द ही आनन्द, कुछ भी हो केवल आनन्द ही आनन्द। इस प्रकार के अभ्यास करने से सम्पूर्ण दुःख एवं क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वाणी से उच्चारण करे तो केवल आनन्द ही का, मन से मनन करे तो आनन्द ही का तथा बुद्धि से विचार करे तो आनंद ही का, परंतु यदि ऐसी प्रतीति न हो तो कल्पित रूप से ही आनन्द का अनुभव करो। इसका भी फल बहुत अच्छा होता है। ऐसा करते करते आगे चलकर नित्य आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। इस साधन को सब कर सकते हैं। हम लोगों को यह निश्चय कर

लेना चाहिये कि हम एक आनन्द ही हैं। ऐसा निश्चय कर लेने से आनन्द ही आनन्द हो जायगा।

१२९१—भगवान् की मूर्ति या चित्र को सामने रख कर तथा आंखें खोलकर उनके नेत्रों से अपने नेत्र मिलावे। त्राटक की भांति आंखें खोल कर उसमें ध्यान लगावे। ध्यान के समय यह विश्वास रखे कि इसमें भगवान् प्रकट होंगे। विश्वास करो ऐसा ध्यान करने पर इससे भी भगवान् मिल जाते है। यह भी भगवत् प्राप्ति का सुगम साधन है।

१२९२—वृक्ष, पत्थर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि संसार की जो भी वस्तुयें दिखलाई दें, उन सब में यह भाव करे कि भगवान ने ही ये सब रूप धारण कर रखे हैं। मन से कहे, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहीं जाओ। सब रूप तो भगवान ने ही धारण कर रखे हैं। जो भी वस्तुयें दिखलाई देती हैं वे सब नारायण के ही रूप हैं। सारे संसार में सबको भगवान का रूप समझकर मन ही मन भगवद् बुद्धि से सबको प्रणाम करे। एक परमात्मा ने ही अनन्त रूप धारण कर लिये हैं। इस प्रकार के अभ्यास से कल्याण हो जाता है।

१२९३—अनिष्ट की प्राप्ति में ज्ञान की दृष्टि से शोक निवारण का उपाय इस बात को स्वप्न के दृष्टान्त से समझाया जाता है। स्वप्न में किसी को रोग हो जाय, कैद या बंधन हो जाय अथवा जल प्लावन आदि कोई अन्य संकट उपस्थित हो जाय, या बाघ, भालू, सर्पादि से भय प्राप्त हो तो नेत्र खुलने पर उस अनिष्ट की सत्ता नहीं रहती। जब नेत्र खुलने पर जाग्रत में उस वस्तु की सत्ता नहीं रहती, तब विचार से ऐसा समझ में आता है कि स्वप्न के समय भी उसका अभाव ही था। अज्ञान के कारण निद्रा दोष के बिना हुए ही उसकी प्रतीति हुई थी जिसके कारण उस स्वप्न को देखने वाला दुखी हो गया

था। उपर्युक्त स्वप्न के दृष्टान्त से यह मानना चाहिए कि जाग्रत में हमें अपने मन के प्रतिकूल किसी अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है। तो वह भी वास्तव में असत्य ही है। क्योंकि कुछ समय के बाद उस वस्तु का अभाव हो जाता है और जिस वस्तु का अभाव हो जाता है वह वास्तव में है ही नहीं।

१२९४—निस्सन्देह मन ही संसार है। प्रथम मन की फुरना होती है। पुनः फिर प्रपंच की कल्पना बंध मोक्ष आदि कल्पना होती है।

१२९५—जब तुम किसी सूक्ष्म विषय की छानबीन में मग्न होते हो तब यद्यपि आँखें खुली होंने पर भी सामने से चाहे जो निकल जाए दिखाई नहीं देता। कान बन्द न हों, पर हल्ला-गुल्ला सुनाई नहीं देता। कारण यही कि तुमने उस ओर ध्यान नहीं दिया। तुम्हारी ओर से 'अस्तु' नहीं बोला गया। यदि रूप और शब्द तुमसे अलग कुछ अस्तित्व रखते हो तो आंखें जो खुली थीं और कान भी जो खुले थे, दिखाई क्यों नहीं दिये ? सुनाई क्यों न दिये ? कुछ अनुयोगी महाशय जब सोते हैं तो आँखें खुली रहती हैं, कान तो सबके सब खुले रहते ही हैं, पर सामने की दीवार, छत, पेड़ आदि खुली आँखों को दिखाई नहीं देते। साथ में सांप लेट जाय, मालूम नहीं पड़ता। नक्कारे बज रहे हों सुनाई नहीं पड़ता। कारण यही कि सबका अस्तित्व तेरे स्वरूप पर स्थिर है। तेरे अस्तु का भिखारी है। यदि ये वस्तुएँ साक्षी से भिन्न अस्तित्व रखती हों तो अपना अस्तित्व प्रकट कर सकती थीं, पर नहीं, हमारा साक्षी बनना और उनका विद्यमान होना दोनों सापेक्षक है। तुम्हारा देखना ही सृष्टि का प्रत्यक्ष है। दृस्टि में हीं सृष्टि है, ज्ञाता और ज्ञेय पृथक् पृथक् नहीं।

१२९६—प्रसन्नता पूर्वक अपमान सहन करने और नम्रता धारण करने से अभिमान की निवृत्ति होती है।

१२९७—भय केवल अज्ञान की छाया है। यह दोषों की काया है और मनुष्य को धर्म पथ में रोकने वाली आसुरी शक्ति की यही भय माया है।

१२९८—मुझे अपने चरित्र पर पूर्ण विश्वास है, चाहे संसार के सारे पत्रकार मेरे विरुद्ध आलोचना करें तो बाल बराबर भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

१२९९—निर्धन, रोगी इत्यादि जिनसे प्रायः लोग घृणा करते हैं, उन्हें साक्षात् ईश्वर समझकर सेवा करना अनन्य भक्ति व आत्मज्ञान का वास्तविक स्वरूप है।

१३००—निर्भयतापूर्वक अपने अज्ञात "स्वात्मानन्द" के सिंहासन पर अधिकार कर लेना मानव मात्र का कर्त्तव्य है।

१३०१—यदि तुम भूखे भी मर रहे हो, तो भी अपने पास का बचा हुआ रोटी का आखिरी टुकड़ा दे दो। यदि तुम दूसरे को देकर स्वयं भूखे मर जाओ तो तुम उसी क्षण मुक्त हो जाओगे।

१३०२—पवित्र बनने के प्रयास में यदि मर भी जाओ तो क्या। सहस्र बार मृत्यु का स्वागत करो। हृदय को न खोना। यदि अमृत न मिले तो यह कोई कारण नहीं कि हम विष खा लें।

१३०३—उठो जागो और जब तक ध्येय की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक रुको मत।

१३०४—सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन में स्थित होकर ज्ञान नेत्रों द्वारा ऐसा देखना चाहिये मानो सब कुछ मेरे ही संकल्प के आधार पर स्थित है। मेरे संकल्प करने से ही सबकी उत्पत्ति होती है और संकल्प के अभाव से ही सबका अभाव है। यों समझ कर फिर संकल्प भी छोड़ देना चाहिये। संकल्प त्याग के बाद जो कुछ बच रहता है वही अमृत है, वही सत्य है, वही आनन्दघन

है। इस प्रकार अचिन्त्य के ध्यान का तीव्र अभ्यास एकान्त में करना चाहिये।

१३०५—चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है। उसकी सेवा ईश्वर की सेवा है। संसार को सुख पहुंचाना परमात्मा को सुख पहुंचाना है। निराकार, साकार सब एक ही तत्व है।

१३०६—अद्वैत यह है कि मनुष्य एक के सिवाय दूसरे को देखे ही नहीं और समस्त संसार को एक ही देखे और एक ही समझे।

१३०७—इस चराचर जगत् में जो कुछ प्रतीत होता है सब ब्रह्म ही है। कोई भी वस्तु एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा से भिन्न नहीं है। इस प्रकार उपासना करे।

१३०८—ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाय तो सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं ठहरती, क्योंकि संसार स्वप्नवत् है और स्वप्न के पदार्थ सब मायामय हैं, इसलिये उत्पन्न होने वाली अनुकूलता और प्रतिकूलता भी मायामयी हैं। जब मनुष्य स्वप्न से जागता है, तब स्वप्न के किसी पदार्थ को भी नहीं देखता और स्वप्न में प्रतीत होने वाले पदार्थों को मायामय समझता है। इसी प्रकार तत्वज्ञानी पुरुष संसार के संपूर्ण पदार्थों को मायामय समझता है। तब अनुकूलता और प्रतिकूलता की कुछ भी सत्ता नहीं रह जाती। फिर चेतन विज्ञानानन्दघन परमात्मा के अतिरिक्त कोई भी वस्तु उसको प्रतीत नहीं होती। उसकी दृष्टि में एक सर्वव्यापी नित्य विज्ञानानन्द ही रहता है और वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है। इसलिए जिसकी स्थिति उस विज्ञानानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में एकीभाव से हो जाती है। उसकी दृष्टि भी सम्पूर्ण संसार में सम हो जाती है और सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता की दृष्टि का अत्यन्त अभाव हो जाता है। तब

राग-द्वेषादि सम्पूर्ण अनर्थों का एवं सम्पूर्ण दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

१३०९—शब्द ब्रह्म की उपासना करने वाले को जो भी कुछ भला या बुरा शब्द सुनाई देता है उसे वह ब्रह्म मान कर उपासना करता है। ब्रह्म सम और एक है, इसलिए साधक की शब्द मात्र में सम बुद्धि हो जाती है। अतएव वह अनुकूल और प्रतिकूल शब्दों में राग-द्वेष और हर्ष-शोक से रहित हो जाता है। कोई उसकी निन्दा या स्तुति करता है तो इससे उसके चित्त में कोई विकार नहीं होता। शब्द मात्र को ब्रह्म मानने के कारण उसकी वृत्ति हर समय ब्रह्माकार बनी रहती है, जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे परम शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

१३१०—व्यवहार में कभी प्रिय विषयों की प्राप्ति होती है तो कभी अप्रिय की। अनुकूल में प्रियता और प्रतिकूल में अप्रियता होती है। ज्ञाननिष्ठा के साधक को उनमें प्रिय अथवा अप्रिय बुद्धि न करके ब्रह्म भाव करना चाहिये और परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित होकर विचरण करना चाहिये। कहीं भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिये।

१३११—वह निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय, निर्विकार परमात्मा इस क्षणभंगुर नाशवान जड़ दृश्य वर्ग माया से सर्वथा अतीत है। इस प्रकार उपासना करे सचेत हो जाओ कि परमात्मा के अतिरिक्त और हर वस्तु असत्य अर्थात् झूठी है।

१३१२—जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ब्रह्म है। इसलिए सब मेरा ही स्वरूप है। इस प्रकार उपासना करे।

१३१३—जो नाशवान् क्षणभंगुर मायामय दृश्य वर्ग से अतीत निराकार निर्विकार नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष

परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरी ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है। इस प्रकार उपासना करे।

१३१४—यह सबका सब जगत् परब्रह्म परमात्मा है। यह समस्त निश्चय ही ब्रह्म है। इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय उस ब्रह्म से ही है। इस प्रकार समझ कर शान्त चित्त से उपासना करे।

१३१५—जो कुछ यह दृश्य वर्ग प्रतीत होता है वह सब अज्ञान मूलक है। वास्तव में एक विज्ञानानन्दघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार के अनुभव से वह इस जन्म-मृत्यु रूप संसार से मुक्त होकर अनन्त विज्ञानानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

१३१६—इस जगत् में एक परमात्मा के अतिरिक्त नाना भिन्न-भिन्न भाव कुछ भी नहीं है। इसलिये जो इस जगत में नाना की भांति देखता है, वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।

१३१७—हम बोलना चाहते हैं तभी वाणी से शब्द उच्चारण होते हैं, मौन हो जाते हैं तब नहीं होते। हम देखना चाहते हैं तभी बाहर का दृश्य दीखता है, नेत्र बन्द करने पर नहीं दीखता। इसी प्रकार हम जानना चाहते हैं तभी ज्ञेय का ज्ञान होता है, नहीं जानना चाहते तो नहीं होता। अतः जो कुछ भी पदार्थ देखने, सुनने या जानने में आते हैं उन सब का वाध करके वाध करने वाली ज्ञानरूप बुद्धि की वृत्ति का भी वाध कर देना चाहिये। उसके बाद जो कुछ बच रहता है वह ज्ञाता है और वह ज्ञातृत्व धर्म रहित शुद्ध स्वरूप ज्ञाता ही नित्य सच्चिदानन्द ब्रह्म है। ऐसा समझ कर ज्ञान और ज्ञेय से रहित केवल चिन्मय नित्य विज्ञानानन्दघन रूप से स्थित रहना चाहिये।

१३१८—जो कुछ पदार्थ भासते हैं उन्हें आत्मा से भिन्न न न जान। सर्व आत्मा ही है। आत्मा के सिवाय जो और भावना है उसका त्याग कर।

१३१९—निश्चय रूप से आकाश ही नाम और रूप का आधार है और वे दोनों जिसके भीतर हैं वही ब्रह्म है। विकार तो वाणी का विलास मात्र है।

१३२०—इन्द्रियाँ केवल कल्पित और आरोपित मात्र हैं। तथा कल्पित पदार्थों ही के ज्ञान के लिए बनाई गई हैं। अतः वह परमात्म तत्व को नहीं जान सकतीं। अपितु, उनके जानने के समय उसी तरह नष्ट हो जाती हैं, जिस तरह रज्जु का ज्ञान हो जाने पर उसमें कल्पित सर्प का ज्ञान नष्ट हो जाता है, क्योंकि कल्पित पदार्थ वास्तविक पदार्थ के सामने स्थित नहीं रह सकता।

१३२१—संसार के समस्त पदार्थ परमात्मा की कल्पना मात्र हैं और कल्पित पदार्थ कल्पना करने वाले के ज्ञान में होते हैं। अतः समस्त संसार के साथ सर्व तीव्र गति पदार्थ भी परमात्मा के ज्ञान में ही स्थित है और परमेश्वर का ज्ञान उसकी सत्ता से पृथक नहीं है।

१३२२—जो मनुष्य समस्त वस्तुओं को आत्मा में देखता है और सब वस्तुओं में आत्मा को देखता है वह इस (समदर्शिता) के कारण (किसी से) घृणा नहीं करता।

१३२३—जो तत्वदर्शी संसार के समस्त चल और अचल पदार्थों को आत्मा (अपने आप) में देखता है और उनको अपने से बाहर और पृथक रूप से नहीं देखता है अर्थात् उन पदार्थों के आत्मा को भी अपना ही आत्मा जानता है और यह समझता है कि जिस प्रकार मैं अपने शारीरिक समुदाय का आत्मा और उसकी समस्त चेष्टाओं का कर्त्ता होते हुए भी अपने वास्तविक रूप में नितान्त निराकार और समस्त सांसारिक विषयों से

निर्लिप्त हूं, इसी तरह अपने निर्लिप्त रूप से संसार के सब भूतों का आत्मा भी मैं ही हूं। सारांश यह है कि जो मनुष्य इस प्रकार हर विशेषण से रहित अपने आत्मा की अव्यक्त सत्ता को ज्ञान दृष्टि से देख लेता है वह इस दर्शन के कारण किसी से घृणा नहीं कर सकता।

१३२४—घृणा अपने से अतिरिक्त किसी दूसरी अशुभ वस्तु को देखने से उत्पन्न होती है और जिस व्यक्ति की दृष्टि में कोई दूसरा रहा ही नहीं, अपितु अपने शरीर की तरह संसार की सर्व सत्तायें उसको अपनी विश्व रूपी सत्ता के भीतर दिखाई देने लगीं वह किससे घृणा करे। इस कारण कि इस अवस्था में किसी से घृणा करना अपने आप से घृणा करना है।

१३२५—वास्तव में विपरीत परिस्थिति को दबा देने के लिये जो बीरता पूर्ण प्रयत्न है वही एक मात्र ऐसा है जो हमारी आत्मा को ऊपर उठाता जाता है।

१३२६—यथार्थ ज्ञान त्याग और प्रेम से होता है। दुःखी प्राणी में त्याग और प्रेम विचार से, और सुखी प्राणी में त्याग और प्रेम सेवा से होता है। क्योंकि जो स्वयं दुःखी है वह सेवा नहीं कर सकता, किन्तु विचार कर सकता है। बेचारे सुखी प्राणी में सुख आसक्ति के कारण विचार उदय नहीं होता प्रत्युत वह सेवा कर सकता है।

१३२७—जब हम मन, इन्द्रिय आदि के संगठन से अपने को असंग कर लेते हैं तब वे बेचारे अचेष्ट होकर हमारे में ही सम हो जाते में और हम अपने परम स्वतंत्र नित्य जीवन में विलीन हो अभेदता का अनुभव करते हैं।

१३२८—जब बुद्धि और हृदय एक हो जाते हैं तब सारा जीवन ही साधन हो जाता है।

१३२९—हमारे दुःखी होने से केवल हमी को दुःख नहीं होता बल्कि हम विश्व में भी दुःख उत्पन्न करते हैं।

१३३०—कर्म देहाभिमान को जाग्रत करता है और सेवा स्वाभिमान को जाग्रत करती है। वड़े से वड़ा कर्म भी छोटी से छोटी सेवा के समान नहीं हो सकता। क्योंकि बेचारा कर्माभिमानी तो सर्वदा फल के लिये दीन रहता है।

१३३१—जो ऐसा निश्चय करता है कि "मैं ही ब्रह्म हूं और मैं ही सबका मालिक हूं" और मैं ही सत् संकल्प और सत्त काम हूं, मुझमें न तो पाप-पुण्य स्पर्श पाता है और न उसका फल लगता है। क्या देव लोक, क्या भू लोक, क्या अग्नि, क्या वायु, क्या चन्द्र, क्या सूर्य, क्या तारे सबके सब मेरे भीतर कल्पित हृदयाकाश में हैं और यही मेरा सिंहासन है। और फिर मरते है, उन्हीं के सत्य लोक हैं, वही सत्य काम है और सत्य संकल्प, सर्वशक्तिमान हो जाते हैं और समस्त लोकों में कामाचार (स्वाधीन) होते हैं।

१३३२—द्वैत जो भासता है उसका कारण माया है और वह माया अनिर्वचनीय है। न तो वह सत् है और न असत् है और दोनों के धर्म उसमें भासते हैं।

१३३३—वास्तव **में** माया भी मिथ्या है। क्योंकि सत् से असत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं और सत्-असत् का मेल भी संभव नहीं और असत् में कोई शक्ति ही नहीं अतएव जगत् केवल भ्रान्ति मात्र है और स्वप्नवत है।

१३३४—जो मनुष्य सुन के, छू के, देख के, खा के, सूंघ के, न प्रसन्न हो, न उदास हो उसे जितेन्द्रिय और शान्त कहते हैं।

१३३५—संन्यासी लोभ से स्वादिष्ट अन्न नहीं खाता तथा स्त्री का मुख नहीं देखता और इच्छित वस्तु किसी से नहीं चाहता।

१३३६—नमस्कार करने से अथवा पूजा से जैसी प्रसन्नता होती है यदि मार पड़ने पर भी जिसको वैसी ही प्रसन्नता हो तभी वह सच्चा भिक्षान्न का भागी होता है ।

१३३७—जो जाग्रत में सुषुप्ति के समान रहता है तथा जिसके जाग्रति नहीं रही यानी संसार सत्य नहीं रहा तथा जिसका ज्ञान संसारी वासना से रहित है वह जीवन-मुक्त है ।

१३३८—साधु पुरुषों द्वारा सत्कार किये जाने पर और दुष्ट जनों से पीड़ित होने पर भी जिसके चित्त का समान भाव रहता है वह जीवन-मुक्त है ।

१३३९—बीती हुई को याद न करना, भविष्य की चिन्ता न करना और वर्तमान में प्राप्त हुए सुख, दुःखादि में उदासीनता—ये जीवन-मुक्त पुरुष के लक्षण हैं ।

१३४०—क्रिया के नाश से चिन्ता का नाश होता है । चिन्ता के नाश से वासना का क्षय होता है और वासना का नाश ही मोक्ष है, यही जीवन-मुक्ति है ।

१३४१—साम्य दृष्टि आनी चाहिये । यह सारी सृष्टि मंगलमय मालूम होनी चाहिये । जैसे मुझे खुद अपने पर विश्वास है वैसा ही सारी सृष्टि पर मेरा विश्वास होना चाहिये । यहाँ डरने की बात ही क्या है । सब कुछ शुद्ध और पवित्र है । यह विश्व मंगलमय है क्योंकि परमेश्वर उसकी देखभाल करता है ।

१३४२—यदि कोई असली दुष्ट आ जाय तो भी ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है । वह दुष्ट होगा भी तो सन्त हो जायगा । देखो सृष्टि क्या है, एक आइना है, तुम जैसा होओगे वैसे ही सामने की सृष्टि में तुम्हारा प्रतिबिम्ब दिखाई देगा । जैसी हमारी दृष्टि वैसा ही सृष्टि का रूप । इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है । अपनी मामूली

क्रियाओं में भी ऐसी भावना का संचार करो फिर देखो क्या चमत्कार होता है।

१३४३—यदि यह भावना ही हो कि परमात्मा मेरे पास है तो सारी दुनिया के उलट पड़ने पर भी हरि का दास भयभीत न होगा।

१३४४—जहाँ आपने देह की आसक्ति छोड़ दी कि तुरन्त
ा सामर्थ्य आपके हाथ में आयेगा। कोई
ला सकता।
वह, मेरा, तेरा, मन का है सब कल्पित।
है। बात निश्चित सत्य है।
ें अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने का
वश्य होगी। विनय भाव से सद्गुणों का
ी सेवा करने की सच्ची निःस्वार्थ धुन
होगा। दृढ़ विश्वास है तो साक्षात्कार
च्चा वैराग्य है तो ज्ञान निःसन्देह
तो शान्ति अवश्य मिलेगी। यदि सतत्
ायें अवश्य नष्ट होंगी। यदि सच्चा
य आ जायगी। यदि पूर्ण निर्भरता है
ुभव अवश्य होगा। यदि दृढ़ परमात्म
ा चिन्तन अवश्य मिट जायगा। यदि
तो बोध अवश्य होगा। जहां सत्य का
बोध होगा वहां अवश्य दृढ़ होगी। जहां पूर्ण प्रेम विकसित होगा वहाँ पूर्णानन्द की स्थिति अवश्य सुलभ होगी।

जो यह जीव है यही ब्रह्म और यही सर्वात्मा है। इससे इतर और कोई ब्रह्म नहीं है। जैसे मन स्वप्न में अनेक रूपों को धारता है किन्तु जागकर एक का एक रहता है। उसी प्रकार यही ब्रह्मात्मा माया उपाधि से मिलकर अनेक ब्रह्माण्ड आकारों को धारता

१३३६—नमस्कार करने से अथवा पूजा से जैसी प्रसन्नता होती है यदि मार पड़ने पर भी जिसको वैसी ही प्रसन्नता हो तभी वह सच्चा भिक्षान्न का भागी होता है ।

१३३७—जो जाग्रत में सुषुप्ति के समान रहता है तथा जिसके जाग्रति नहीं रही यानी संसार सत्य नहीं रहा तथा जिसका ज्ञान संसारी वासना से रहित है वह जीवन-मुक्त है ।

१३३८—साधु पुरुषों द्वारा सत्कार
जनों से पीड़ित होने पर भी जिसके चित्त
है वह जीवन-मुक्त है ।

१३३९—बीती हुई को याद न कर
करना और वर्तमान में प्राप्त हुए सुख,
ये जीवन-मुक्त पुरुष के लक्षण हैं ।

१३४०—क्रिया के नाश से चिन्ता
के नाश से वासना का क्षय होता है
मोक्ष है, यही जीवन-मुक्ति है ।

१३४१—साम्य दृष्टि आनी चा
मंगलमय मालूम होनी चाहिये । जैसे सु
है वैसा ही सारी सृष्टि पर मेरा विश्
डरने की बात ही क्या है । सब कुछ
विश्व मंगलमय है क्योंकि परमेश्वर उ

१३४२—यदि कोई असली दुष्ट आ जाय तो भी ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है । वह दुष्ट होगा भी तो सन्त हो जायगा । देखो सृष्टि क्या है, एक आइना है, तुम जैसा होओगे वैसे ही सामने की सृष्टि में तुम्हारा प्रतिबिम्ब दिखाई देगा । जैसी हमारी दृष्टि वैसा ही सृष्टि का रूप । इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है । अपनी मामूली

क्रियाओं में भी ऐसी भावना का संचार करो फिर देखो क्या चमत्कार होता है।

१३४३—यदि यह भावना ही हो कि परमात्मा मेरे पास है तो सारी दुनिया के उलट पड़ने पर भी हरि का दास भयभीत न होगा।

१३४४—जहाँ आपने देह की आसक्ति छोड़ दी कि तुरन्त सम्राट हो जाओगे। सारा सामर्थ्य आपके हाथ में आयेगा। कोई भी आप पर हुक्म नहीं चला सकता।

१३४५—मैं, तू, यह, वह, मेरा, तेरा, मन का है सब कल्पित। जो कल्पित है सो मिथ्या है। बात निश्चित सत्य है।

१३४६—यदि आप में अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प है तो प्रगति अवश्य होगी। विनय भाव से सद्‌गुणों का विकास होगा। दूसरों की सेवा करने की सच्ची निःस्वार्थ धुन है तो हृदय अवश्य शुद्ध होगा। दृढ़ विश्वास है तो साक्षात्कार अवश्य होगा। यदि सच्चा वैराग्य है तो ज्ञान निःसन्देह होगा। यदि अटूट धैर्य है तो शान्ति अवश्य मिलेगी। यदि सतत् प्रयत्न है तो विघ्न-बाधायें अवश्य नष्ट होंगी। यदि सच्चा समर्पण है तो भक्ति अवश्य आ जायगी। यदि पूर्ण निर्भरता है तो निरन्तर कृपा का अनुभव अवश्य होगा। यदि दृढ़ परमात्म चिन्तन है तो संसार का चिन्तन अवश्य मिट जायगा। यदि सद्‌गुरु का दृढ़ आश्रय है तो बोध अवश्य होगा। जहां सत्य का बोध होगा वहाँ समता अवश्य दृढ़ होगी। जहां पूर्ण प्रेम विकसित होगा वहाँ पूर्णानन्द की स्थिति अवश्य सुलभ होगी।

जो यह जीव है यही ब्रह्म और यही सर्वात्मा है। इससे इतर और कोई ब्रह्म नहीं है। जैसे मन स्वप्न में अनेक रूपों को धारता है किन्तु जागकर एक का एक रहता है। उसी प्रकार यही ब्रह्मात्मा माया उपाधि से मिलकर अनेक ब्रह्माण्ड आकारों को धारता

है। जब विचार करता है तब उपाधि को त्यागकर एक अद्वैत आनन्द रूप से स्थित होता है और अनुभव करता है कि मैं सामर्थवान् हूं। सब प्रपंच मेरा रचा हुआ है। मैं ही कामना करने वाला हूं। मैं ही क्रोधी, लोभी हूं। मैं ही माया द्वारा ईश्वर हूं। मैं अविद्या द्वारा प्राज्ञ हूं, इत्यादि। मैं ही सब कुछ हूं।

१३४७—समुद्र की गर्जने, सिंह की दहाड़, बिजली की कड़-कड़ाहट आदि जितने भयानक शब्द है जिनको सुनकर भयमान नहीं होता, जैसे शूरमा धनुष का शब्द सुनकर भयभीत नहीं होता, जैसे ज्ञानवान मतवाले हस्ती और वैताल, पिशाच के शब्द सुन अरु इन्द्र के वज्र का शब्द, देवता का शब्द सुनता हुआ कम्पायमान नहीं होता, अरु आरे से शरीर को काटिये अरु खंग से कण कण करिये, बाणों से बेधा जावे तो भी कम्पायमान नहीं होता, उसे राग-द्वेष किसी विषे नहीं होता शरीर पर एक ओर जलता अंगार रखिये और एक ओर फूलों का स्पर्श रखिये तो भी हर्ष शोकवान नहीं होता अरु एक ओर खंग धारावत तीक्ष्ण स्थान होवे अरु एक ओर पुष्प शय्या होवे जिसको दोनों तुल्य है। एक ओर मारने वाला विष होवे दूसरी ओर जिवाने वाला अमृत होवे सो दोनों उसके तुल्य है। लोहे के जम्बुरा के साथ उसका माँस तोड़िये अरु नरक विषे डालिये अरु ऊपर शस्त्रों की वर्षा होवे तो भी ज्ञानवान पुरुष भय को न पावेगा। अरु न उद्वेगवान व्याकुल होगा, न दीन होगा। ज्ञानवान इन विषे सदा सम रहता है। पहाड़ की नाई धैर्यवान स्थित रहता है।

१३४८—जगत में सब हमारे मित्र हैं। हमारा किसी से कोई विरोध नहीं है। हम सबसे प्रेम करते हैं। इस भावना की वृद्धि करने से क्रोध की उत्तेजना विलुप्त हो जाती है।

१३४९—आत्मा सदा निर्भय है। उसे न कोई मार सकता ह

न डरा सकता है। उसी का ध्यान करने से साहस का संचार होता है।

१३५०—मैं किसी से नहीं डरता, भूलकर भी डरके जंजाल में नहीं फंसता। मैं स्वतंत्र और मुक्त आत्मा हूं। मेरी आत्मा सदा सर्वदा निर्भय है। मैं भीतर-बाहर सब जगह आत्मदेव को देखता हूं। घातक भय के भाव मेरे मन मंदिर में उदय नहीं हो सकते। मैं आत्मा पर पूर्ण विश्वास करता हूं। मुझे अपने आप में असीम श्रद्धा है। मैंने निर्भय रहने का व्रत लिया है।

१३५१—हमारी आत्मा को डर से कोई सरोकार नहीं है। यह आत्मा अजन्मा, अविनाशी, सनातन, अजर, अमर, एक रस नित्य है। यह नाश रहित है। इस आत्मा का शरीर से वही नाता है जैसे मनुष्य का वस्त्र के साथ।

१३५२—हम अजर, अमर आत्मा हैं। हमें कौन डरा सकता है ? आत्मा को भय किसका ? शोक, कष्ट, दुःख, व्यथा, ईर्ष्या हमारी आत्मा पर क्यों कर अपना दूषित प्रभाव डाल सकते हैं। हम में आत्मबल पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। अतः कोई भी कलुषित विचार कैसे ठहर सकता है ? कोई भी विरोधी भाव क्योंकर हमारे हृदय को अशांत कर सकता है ? जो सदा एक रस है उसे किस का भय ? उसके सिवाय तो कुछ है ही नहीं।

१३५३—आत्मा का निर्भय स्वरूप जाग्रत करने के लिए रात्रि में सोने से पूर्व कहो कि मेरा मन सदा शुभ संकल्प करने वाला है अशुभ या कलुषित विचारों से मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं। कोई मेरे प्रतिकूल नहीं है।

१३५४—मैं परमात्मा का निर्भय पुत्र हूं। अब मेरी आत्मा जाग उठी है। मैंने अपने हृदयस्थ आत्मा का दर्शन कर लिया है जो कि बल का महासागर है।

१३५५—मैत्री भावना के निरन्तर अभ्यास द्वारा मन की सब कायरता, भय, कल्पित उद्वेग सदा के लिए दूर हो जाते हैं। सब से मैत्री भावना रखने वाला संयमी सदा दूसरों का प्रिय होता है। उसे कोई हानि नहीं पहुंचा सकता। वह परम निर्भय जीवन व्यतीत करता है।

१३५६—मैत्री भावना मनुष्य को सबके प्रति चाहे मित्र हो अथवा शत्रु, पापी हो या पुण्यात्मा मित्रता का भाव रखना सिखाती है। जब हम समस्त विश्व में अपने मित्र ही मित्र देखने का अभ्यास कर लेंगे, न किसी का बुरा चाहेंगे न सोचेंगे ही, सब जीवों के प्रति कल्याण भावना ही रखेंगे तो फिर हमारा कौन शत्रु रह सकता है ?

१३५७—विश्व क्षमा की भावना का साधन—उस व्यक्ति के अन्तस्तल में अविराम शान्ति विराजती है जिसने अपने समस्त वैरियों, शत्रुओं, पापियों, दु:खी करने वालों को क्षमा कर दिया है। जब आप क्षमा की भावना में रमण करते हैं तब स्वार्थ तथा प्रतिशोध का कल्मष भूल जाता है। उग्रता, क्रोध, प्रतिहिंसा की धारणा क्रमशः दूर हो जाती है और चित्त में समस्वरता का राज्य हो जाता है। ऐसा पुरुष अपना ही नहीं अनेकों का लाभ कर सकता है।

१३५८—मैं सब जीवों को, शत्रुओं को, वैरी, निन्दकों को हृदय से क्षमा करता हूं, सब जीव मुझे क्षमा करें। संसार में सभी हमारे मित्र हैं, सुहृद् हैं, शत्रु भी परम मित्र हैं। इस प्रेम तथा क्षमा भाव से अक्षय शान्ति की उपलब्धि होती है।

१३५९—मैं संसार से सर्वथा मुक्त हूं। मेरा लगाव इतना ही है जितना कमल का जल से होता है। मैं संसार के मिथ्यात्व, अस्थिरता और व्यर्थता को समझ गया हूं। मैं तो आत्मा हूं।

१३६०—वास्तव में दु:ख का कारण दूसरों के दु:खों, कष्टों, न्यूनताओं, कमजोरियों और छिद्रों को देखना ही है।

१३६१—संसार की कोई विषमता मुझे परेशान नहीं कर सकती। मेरे हृदय में ईश्वरीय दिव्य प्रेम का संचार हो रहा है। मेरा चित्त, स्वभाव, शांत एवं निर्दोष हो गया है। सम्पूर्ण अशान्ति, उद्वेग, मनोविकार एवं कुभाव मेरे चित्त की भूमिका से उखड़ गये हैं। मेरा स्वभाव बिलकुल बदल गया है। संसार के प्रलोभन मुझे बन्धन में नहीं डाल सकते। मेरे पवित्र और शुद्ध अन्त:करण में कोई क्षोभ और अशान्ति उत्पन्न करने वाली तरंगें हिलोरे नहीं ले सकतीं।

१३६२—ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में सारा संसार सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है। असत, जड़ और दु:ख उसे प्रतीत ही नहीं होते। उसकी दृष्टि में तो द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि का भेद नहीं रहता। वह तो एक निश्चल, निर्वाध और सच्चिदानन्दघन सत्ता मात्र रह जाता है। उसके द्वारा जो कुछ कार्य होते हैं वह दूसरों की ही दृष्टि में होते हैं। उसकी दृष्टि में तो न कोई कार्य है और न उसका करने वाला ही।

१३६३—जगत् में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है वह सब ईश्वर के द्वारा अच्छादनीय है अर्थात् उसे भगवत् स्वरूप अनुभव करना चाहिए।

१३६४—सृष्टि में जितने भी रंग हैं, सूर्य के हैं अपने नहीं। इसी कारण सूर्य को मंत्रों में विश्व रूप कहा है क्योंकि विश्व नाम सृष्टि का है। और उसमें अपना रूप कोई नहीं, वरन् सूर्य का रूप ही उधार लिया होता है।

१३६५—समुद्र की तरंगों की ओर देखो, एक भी तरंग समुद्र से पृथक् नहीं है। फिर भी तरंग पृथक् क्यों प्रतीत होती है? नाम और रूप के कारण—तरंग की आकृति और उसे हमने जो

तरंग नाम दिया है। वह इन दोनों ने उसे समुद्र से पृथक कर दिया है। नाम रूप के नष्ट हो जाने पर वह समुद्र का समुद्र ही रह जाता है। अतएव यह समुदाय जगत् एक स्वरूप है।

१३६६—वास्तव में 'मैं' और 'तुम' नामक कुछ भी नहीं है। सब एक ही है। चाहे कह लो सभी 'मैं हूं' या सभी 'तुम हो'। द्वैत ज्ञान मिथ्या है।

१३६७—मैं काल के आधीन नहीं हूं, काल मेरे आधीन है। सारे स्वर्ग मेरे भीतर हैं। मैं स्वयं किसी स्वर्ग में अवस्थित नहीं हूं और मनुष्य ने आज तक जितने देवताओं की उपासना की है वे सब उसके भीतर ही अवस्थित हैं। वह स्वयं किसी देवता में अवस्थित नहीं है। वह देव, असुर, मानव, पशु, पक्षी, प्रस्तर आदि सभी का सृष्टिकर्त्ता है। और उस समय मनुष्य का असल स्वरूप उसके निकट इस जगत् से भी अधिक श्रेष्ठतर और सर्व-व्यापी आकाश से भी अधिक सर्वव्यापी रूप में प्रकाशित होता है। तभी मनुष्य निर्भय हो जाता है। तभी वह मुक्त हो जाता है जब सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है।

१३६८—भ्रम के वश हम सोचते हैं कि हम अपवित्र हैं, हम अशान्त हैं, हम जगत् से पृथक हैं पर असल में प्रकृत मनुष्य एक अखण्ड सत्ता स्वरूप है।

१३६९—जो कुछ है वह सब आत्मा ही है, अर्थात् सब कुछ मेरा स्वरूप है मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। ज्ञान, निष्ठा के अनुसार इस तृतीय साधन के अवान्तर भेद लिखे जाते हैं। इसके केवल तीन प्रकार ही बतलाये जाते हैं। प्रथम, यह दृष्टि रखी गई है कि समस्त भूत प्राणी आत्मा के अन्तर्गत हैं। दूसरे में, यह दृष्टि रखी गई है कि भूत और आत्मा ओतप्रोत हैं। तीसरे में, सबके दुःख-सुख को आत्म सदृश अनुभव करने की बात है।

(क) साधक को चाहिए कि वह ऐसा अभ्यास करे कि जैसे आकाश से उत्पन्न वायु, जल, तेज और पृथ्वी उसके एक अंश में स्थित है, वैसे ही मुझ अनन्त नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मा के एक अंश में यह सारा जगत् स्थित है। इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास करने से साधक सच्चिदानन्दघन परमात्मा को अभेद रूप से प्राप्त कर लेता है।

(ख) जो कुछ जड़, चेतन, चराचर प्रतीत होता है वह सब ब्रह्म है। ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिये सब मेरा स्वरूप है। जैसे सर्वव्यापी आकाश सम्पूर्ण बादलों में सर्वत्र समान भाव से व्यापक रहता है वैसे ही इन समस्त चराचर भूत प्राणियों में आत्मा समान भाव से व्यापक रहता है। जिस प्रकार प्रकाश से ही झुण्ड के झुण्ड बादल पैदा होते हैं और उसी में स्थित रहते हैं, इसलिए सारे बादलों का कारण और आधार आकाश ही है, वैसे समस्त भूत प्राणियों का कारण और आधार आत्मा है। इस प्रकार समझ कर चराचर भूत प्राणियों को सपना स्वरूप ही समझना चाहिये और सबको अपनी आत्मा में तथा आत्मा को सारे भूत प्राणियों में समभाव से देखना चाहिये। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य विज्ञानानन्दघन परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

१३७०—अद्वैतवादी कहते हैं, जगत् का ईश्वर हमारा अपना ही अन्तरात्मा स्वरूप है।

१३७१—बारम्बार प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालने का तथा यथाशक्ति बाहर रोक रखने का अभ्यास करने से मन में निर्मलता आती है। इससे शरीर की नाड़ियों का भी मल नष्ट होता है।

१३७२—अज्ञान और अज्ञान के कार्य जाग्रत और स्वप्न

इसमें मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। सुषुप्ति कारण है, जाग्रत स्वप्न कार्य है।

१३७३—देहात्म बुद्धि दूर कर दो, ऐसा करते ही सारे दुःख क्लेश दूर हो जायेंगे। मनोबल से रोग दूर करने का यही रहस्य है।

१३७४—हमारे जीवन का सबसे सुखकर क्षण वही होगा जब हम स्वयं को बिलकुल भूल जायेंगे। जीवन का समस्त रहस्य है निर्भीक होना। तुम्हारा क्या होगा इसका भय छोड़ दो। किसी के ऊपर निर्भर मत रहो। जब तुम दूसरे की सहायता की आशा छोड़ दोगे तभी तुम मुक्त हो जाओगे।

१३७५—'क्रोध' नाम की कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि सभी वस्तुओं में समत्व बुद्धि के अभाव से ही क्रोध आता है।

१३७६—भेद वस्तुओं के स्वरूप में नहीं रहता, वह तो हमारे मस्तिष्क में रहता है। बाहर एक अखण्ड वस्तु ही है, भेद केवल भीतर हमारे मन में रहता है। अतएव बहुत्व का ज्ञान मन की ही सृष्टि है।

१३७७—शत्रु, मित्र, तथा सब द्वन्द्वों के प्रति समदृष्टि होना सीखो। जब ऐसा हो सकेगा तथा तुम्हें कोई वासना नहीं रहेगी तभी यह समझना चाहिये कि तुम्हें चरम अवस्था का लाभ हुआ है।

१३७८—तुम्हें यदि कोई गाली दे तो उसके प्रति कृतज्ञ होओ, क्योंकि गाली या अभिशाप क्या है, यह देखने के लिये उसने मानो तुम्हारे सम्मुख एक दर्पण रखा और वह तुम्हारे लिये आत्मसंयम का अभ्यास करने का एक अवसर दे रहा है। अतएव उसे आशीर्वाद दो और सुखी बनो। अभ्यास करने का अवसर मिले बिना व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता जैसे दर्पण सामने रखे बिना हम अपना मुख नहीं देख सकते।

१३७९—अपवित्र चिन्ता अपवित्र क्रिया के समान ही दोषकर है।

१३८०—तुम यह सर्वदा ध्यान में रखो कि तुम मुक्त हो।

१३८१—तुम लोग अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो और जो तुम से घृणा करते हैं उनसे भी प्रेम करो।

१३८२—कभी भी यह मत सोचो कि तुम जगत् को और सुखी बना सकते हो।

१३८३—प्रत्येक पिण्ड में सारा ब्रह्माण्ड भरा है।

१३८४—विश्व अयुत्त सिद्धावयव (अखण्ड) पदार्थ है। उसके अवयवों का स्वतन्त्र जीवन नहीं है। सम्पूर्ण विश्व अपने छोटे से छोटे टुकड़े में वर्तमान है।

१३८५—'मैं' न रहने पर बाहर में 'तुम' (दृश्य) नहीं रह सकता। इससे कुछ दार्शनिकों ने यह सिद्धान्त निकाला कि 'मैं' में ही वाह्य जगत् रहता है। 'मैं' (द्रष्टा) को छोड़ कर इसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। तुम (दृश्य) केवल मैं (द्रष्टा) में ही रहता है।

१३८६—समष्टि सम्पूर्ण एक है अतएव एक व्यक्ति को सुखी करने का अर्थ है एक दूसरे व्यक्ति को असुखी करना। बाहर के सुख केवल जड़, सुख हैं और उसका परिणाम निर्धारित है। अतएव सुख का एक कण भी दूसरे के पास से छीने बिना हमें प्राप्त नहीं हो सकता। केवल वही सुख जो जड़ जगत् से अतीत है, बिना किसी के हानि पहुचाये प्राप्त किया जा सकता है। जड़ सुख केवल दुःख का रूपान्तर मात्र है।

१३८७—अच्छा और बुरा ये दोनों अच्छेद्य भाव से जड़ित हैं—एक को लेने पर दूसरे को लेना ही होगा।

१३८८—जो मुक्त हैं, वे किसी काल में बंध नहीं होते। मुक्त किस प्रकार बंध हुए यह प्रश्न ही युक्तियुक्त नहीं है। जहाँ कोई

बन्धन नहीं है वहां कार्य कारण भाव भी नहीं है।

१३८९—यदि तुम यथार्थ में निःस्पृह हो तो किसी बात की परवाह मत करो। विश्व में कोई भी तुम्हारा यथा विरोध नहीं कर पायेगा।

१३९०—"प्रस्तुत रहो" स्वर्ग राज्य अत्यन्त समीप है। एक क्षण भी विलम्ब न होने दो। कल पर कुछ मत छोड़ो और उस महान व परम अवस्था के लिये सदा प्रस्तुत रहो, वह तुम्हारे निकट किसी भी क्षण उपस्थित हो सकता है।

१३९१—मनुष्य की आंखें ही देखो, उनका कितनी आसानी से नाश हो सकता है। फिर भी इस विशाल सूर्य मण्डल का अस्तित्व तुम्हें कैसे प्रतीत होता है? इसलिये कि तुम्हारी आंखें उसे देख रही हैं। दुनिया इसलिये विद्यमान है कि तुम्हारी आंखें प्रमाण देती हैं कि वह विद्यमान है। जरा इस रहस्य पर विचार करो। ये बेचारी छोटी आंखें तेज उजाला या एक आलपीन इन्हें नष्ट कर दे सकती है। लेकिन नाश के बृहतम यन्त्र, प्रलय काल के बलिष्ठतम साधन, आश्चर्यपूर्ण घटनायें, कोटि कोटि तारे, सूर्य, चन्द्र, भूमण्डल इन सबका अस्तित्व इन दो छोटी आंखों पर अवलम्बित है और इन्हें इन दो आंखो की सिफारिश की आवश्यकता होती है। आंखें कहती हैं कि हे प्रकृति! तुम विद्यमान हो और हम विश्वास करते हैं कि प्रकृति विद्यमान है। हमारी प्रत्येक इन्द्रियों के बारे में ठीक यही सच है।

१३९२—इस जगत् में सब वस्तुयें अद्भुत भाव से परस्परावलम्बी हैं। यहां छोटे से छोटा परमाणु भी सम्पूर्ण विश्व के अस्तित्व के लिये आवश्यक है फिर हम किसे ऊंचा कह सकते हैं और किसे नीचा? प्रत्येक वस्तु में वह अनन्त सत्ता रूपी समुद्र ओत-प्रोत है। वहां अनन्त उनका सत्य स्वरूप है और जो कुछ धरातल पर विद्यमान है वह भी अनन्त ही है, जो शांत है वही

अनन्त है और जो अनन्त है वही शान्त है। यही है हमारी सत्ता का स्वरूप।

१३९३—जीवन तो एक खेल का मैदान है, खेल चाहे जितना ही जंगली क्यों न हो, हम पर चाहे जितने थपेड़े, चाहे जितने धक्के लगें, किन्तु नित्य वर्तमान आत्मा को कभी कोई चोट नहीं पहुंच सकती, हम वही अनन्त आत्मा हैं !

१३९४—मुझे कभी न संशय था न डर। मृत्यु मुझे कभी न छू पाई। मेरे माता-पिता कहां ? मैं तो अजन्मा हूं। मैं ही सब कुछ हूं। फिर मेरा शत्रु कौन ? मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूं। सोऽहम् सोऽहम्। काम, क्रोध, ईर्ष्या, कुविचार आदि ने मुझे कभी स्पर्श नहीं किया, क्योंकि मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप हूं सोऽहम् सोऽहम् सब दुःखों पर यही एक अमोघ उपाय है। यह वह अमृत है जो मृत्यु को जीत लेता है। सोऽहम् सोऽहम्। मुझे न भय है न संशय, न मृत्यु। मैं जाति, वर्ण, लिंग सबसे अतीत हूँ। कौन सा सम्प्रदाय मुझे बाँध सकता है ? कौन सा पंथ मुझे अपना सकता है ? सब पंथों में मैं ही अनस्यूत हूं। शरीर चाहे जितना ही विरोध करे, मन लड़ने के लिये जितना ही उठ खड़ा हो, इस घन अन्धकार में इस जलती हुई यन्त्रणा ने इस घोरतम नैराश्य में एक बार, दो बार, तीन बार सर्वदा यही गावो। प्रकाश मृदुता से आता है, धीरे धीरे आता है, पर आता है अवश्य।

१३९५—हम जिसे जगत कहते हैं वह तो वृत्तियों की समष्टि मात्र है।

१३९६—यह सम्पूर्ण बहिर्जगत्, अन्तरजगत् या सूक्ष्म जगत् का स्थूल विकास मात्र है। सभी स्थलों में सूक्ष्म को कारण और स्थूल को कार्य समझना होगा। इस नियम से बहिर्जगत् कार्य है और अन्तरजगत् कारण।

१३९७—जब तक हम यह अनुभव नहीं कर लेते कि समस्त ज्ञान हमारे अन्दर है, जब तक यह दृढ़ धारणा नहीं हो जाती कि कोई भी हमें सत्य की प्राप्ति करने में सहायता नहीं पहुंचा सकता। हमें स्वयं ही अपने आपकी सहायता करनी होगी तब सारा सत्यान्वेषण ही वृथा है।

१३९८—दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है कार्य और हम हैं उसके कारण।

१३९९—हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि जब तक हम अपने आपको दुर्बल न बनायें तब तक हम पर कुछ नहीं हो सकता।

१४००—दृश्य द्रष्टा को प्रकाश नहीं कर सकती। उलटा द्रष्टा ही दृश्य को प्रकाशता है। सूर्य दीपकादिकों में यह प्रसिद्ध दृष्टान्त है।

१४०१—जो बुद्धि को प्रकाशता है सोई सब पदार्थों को प्रकाशता है। बुद्धि आदि किसी को भी नहीं प्रकाश कर सकते।

१४०२—घट और भूषणादि सब कल्पित पदार्थ, मृत्तिका, सुवर्णादिक अपने अपने अधिष्ठान विषें हैं ही नहीं। केवल सुवर्णादिक अधिष्ठान ही है। परन्तु यह बात अलौकिक बुद्धि के नेत्रों से देखी जाती है।

१४०३—सब शरीर सहित स्वप्न जगत् मिथ्या है और स्वप्न द्रष्टा ही सत्य है तैसे ही सब सरीर सहित जाग्रत जगत् मिथ्या है, यह जानना ही संसार रूपी अन्धकूप से निकलना है।

१४०४—जीविका की चिन्ता, प्रणयिनी सुन्दरियों का श्रवण, मनन एवं लोगों का दुःखमय स्मरण यदि तू अपने निजस्वरूप का ही प्रेमी होवे तो सब मिट जावे।

१४०५—महल, अटारी, बाग-बगीचे जो कुछ तुम देखते हो वस्तुतः प्रकाश ही को तुम देख रहे हो। प्रकाश ही की किरणों में सारा संसार दृष्टिगोचर होता है। यही प्रकाश हरा, लाल, पीला बना हुआ है और तुरीया कि अपने स्वरूप में बिलकुल बेरंग है।

१४०६—जिस मनुष्य का चित्त शुद्ध हो जाता है उसे यह संसार निर्विकार, शान्त अनुभव मात्र आकाश के समान निर्मल ब्रह्मरूप प्रतीत होता है।

१४०७—आकाश के नीले रंग के समान जो यह भ्रमदायक संसार प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है इसके अत्यन्त अभाव की प्रतीति यदि चित्त में दृढ़ प्रकार से जम जावे तब समझना चाहिये कि अब ब्रह्म के रूप का ज्ञान हुआ और किसी प्रकार से नहीं हो सकता क्योंकि दृश्य के अत्यन्त अभाव को छोड़कर कल्याण का और कोई उपाय नहीं।

१४०८—जब चित्त में द्वैत का भान होता है तब संसार में भी द्वैत का भेद दिखाई देता है। परन्तु जब चित्त में से द्वैत बुद्धि का क्षय हो जाता है तब संसार में भी भेदभाव कहीं दिखाई नहीं पड़ता।

१४०९—यह दृश्य संसार इन्द्रजाल की रचना के समान मिथ्या है, इस कारण इसमें मन लगाना अथवा इससे भयभीत होना दोनों व्यर्थ हैं। ऐसा विचार मन में करने से अहंकार का क्षय होता है।

१४१०—अन्य शास्त्रों के ढेर पढ़ने ने क्या लाभ ? केवल इतना ही अनुष्ठान करो कि जिस पदार्थ में रुचि उत्पन्न हो उसी को विष और आग के समान त्याज्य समझो।

१४११—मैं दोनों भुजाओं को ऊपर उठाकर ऊंचे स्वर से घोषणा करता हूं कि जैसे जल से कमल भिन्न है वैसे ही आत्मा

अलग है, देह अलग है। आत्मा देह से भिन्न है।

१४१२—किसी की सहायता करने के लिये जाकर और अधिक भ्रम की सृष्टि मत करो। यह मानो एक वट वृक्ष के समान है जो बढ़ता ही जाता है। यदि तुम द्वैतवादी हो तो ईश्वर की सहायता के लिये जाना ही तुम्हारी मूर्खता है। यदि तुम अद्वैतवादी हो तो तुम स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो। फिर तुम्हारा कर्तव्य क्या रहा ?

१४१३—दुनिया में जितने पदार्थ हैं वे पाँच विषय रूप हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध और पाँच ही ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो इन पांच प्रकार के विषयों को ग्रहण करती हैं।

१४१४—दुनिया में जितने शब्द हैं, उन सबकी जड़ कान है। अगर कान न हो तो एक भी शब्द सुनाई नहीं देता। इसी तरह जितने भी रूप हैं उनकी जड़ आँख है, यदि आँख न हो तो कोई भी रूप नहीं। जितने भी रस हैं, वे जिह्वा के वजन से हैं। जितने भी कोमल कठिन पदार्थ हैं वे त्वचा इन्द्रियों की वजह से हैं। इसी तरह घ्राण की वजह से सम्पूर्ण गंध है। तो कहने का भाव यह है कि संसार भर की सम्पूर्ण वस्तुएं इन पाँचों इन्द्रियों की वजह से हैं। ये इन्द्रियां भी अपने आप कुछ नहीं कर सकतीं वल्कि इनके पीछे ख्याल काम कर रहा है। यदि ख्याल आँख के पीछे है तो कान सुनेंगे नहीं और जिह्वा रस का ग्रहण करते हुए भी बता नहीं सकती। इसी तरह ख्याल की वजह से इन्द्रियाँ हैं। यदि ख्याल नहीं तो ये होती हुई भी कुछ नहीं।

१४१५—निश्चय कर कि यह सम्पूर्ण संसार का व्यवहार एक खेल है। सम्पूर्ण युद्ध का खेल मेरी साक्षी और शहादत में हो रहा है। मैं ही सबका साक्षी और प्रेरक हूं।

१४१६—हमें तो सहस से कहना चाहिए कि चाहे लाखों ही

दुःखों और सुखों के दरिया उमड़ आयें, परन्तु मैं सदा अचल रहूंगा। क्योंकि मैं इन दोनों का साक्षी हूं।

१४१७—बंध और मोक्ष की आशा सुख-दुःख की भावना तथा हित-अहित की शंका छोड़कर समुद्र के समान गम्भीर बनो।

१४१८—सब प्रकार की घृणा अपने से भिन्न किसी को दूषित देखने वाले को ही होती है, अर्थात् जो अपनी आत्मा से दूसरे को भिन्न जानता है। अन्तःकरण में राग-द्वेष की भावनायें पैदा होती हैं। इसलिए वेदान्त कहता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कारण कार्योत्तम जगत को ब्रह्म रूप समझो। जब आपके हृदय में ब्रह्म स्वरूप की भावना परिपक्व हो जायगी तब राग-द्वेष की भावना भी सदा के लिये निवृत्त हो जायगी।

१४१९—जैसे स्वप्न में यह 'जीव' निद्रा दोष करके ईश्वर अनेक जीवों तथा पदार्थों की रचना कर लेता है। परन्तु यह सब कल्पित है उनकी वास्तविक सत्ता कुछ नहीं होती और प्रबोध होने पर सब विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार अनादि माया के सम्पर्क से यह आत्मा स्वयमेव अनेक इन्द्रादि देवता, मनुष्यादि योनियों और घट पटादि जड़ पदार्थों की रचना कर लेता है। इस प्रकार चित हुए भी यह पदार्थ काल्पनिक सत्ता का उल्लंघन नहीं करते और प्रबोध हो जाने पर सबके सब विलीन हो जाते हैं।

१४२०—जैसे स्वप्न द्रष्टा निद्रा के कारण स्वयमेव अपने में भिन्न-भिन्न पदार्थों की कल्पना कर लेता है और उनको अपने से भिन्न देखता है, परन्तु वस्तुतः उस द्रष्टा से भिन्न कोई भी पदार्थ सत्य नहीं होता। इसी प्रकार माया के कारण यह आत्म-देव भी अपने आप अपने में अनेक भिन्न-भिन्न पदार्थों की कल्पना कर लेता है और उनको अपने से भिन्न देखता है परन्तु वस्तुतः

उस द्रष्टा से भिन्न कोई भी पदार्थ सत्य नहीं होता। सार यह है कि दोनों अवस्थाओं और तद्गत पदार्थों के मिथ्या होते हुए भी उनका साक्षी एक मात्र सत्य वस्तु आत्मा उनका अधिष्ठान है। वही सब कल्पनाओं का आलम्बन है। इस प्रकार जो द्रष्टा है वही स्रष्टा है।

१४२१—द्रष्टा आत्मा से भिन्न कोई द्रव्य पदार्थ सत्य रूप से विद्यमान नहीं है। जैसे स्वप्न में यावद दृश्य प्रपंच स्वप्न द्रष्टा से अपने में कल्पित होने के कारण अणुमात्र भी उससे भिन्न नहीं होता और प्रबोध होने पर ऐसे विलीन हो जाता है जैसे कभी कुछ हुआ ही नहीं। वैसे यह सब जाग्रत दृश्य प्रपंच भी आत्मा से अपने अज्ञान के कारण अपने में कल्पित हुआ उससे अणुमात्र भी भिन्न नहीं और आत्मज्ञान रूप प्रबोध के होते ही ऐसे विलीन हो जाता है जैसे कभी कुछ हुआ ही नहीं।

१४२२—जैसे स्वप्न दृश्य, स्वप्न द्रष्टा के स्वरूप से इतर नहीं है। इसी प्रकार द्रष्टा से इतर संसार दृश्य कुछ नहीं है।

१४२३—अन्य द्वैत का सदा से अभाव होने से यह आत्मा स्वरूप से असंग है।

१४२४—जिसको अज्ञजन कर्म समझते हैं वह वस्तुतः अकर्म ब्रह्म ही है। सब अज्ञजन अक्रिया ब्रह्म स्वरूप है भी, परंतु अविद्या वश से अपने आपको क्रियावान जीव जगत् रूप से मानते हैं।

१४२५—कल्प प्रलय के पवन चले समुद्र (बढ़कर) परस्पर मिल कर एक हो जावे, द्वादश सूर्य मिलकर तपने लगे तब भी मनोनाश वाले पुरुष को कुछ हानि नहीं होती।

१४२६—सर्ग (सृष्टि) प्रथम से ही उत्पन्न हुआ नहीं दृश्य का सर्वदा ही अभाव है।

१४२७—रम्य अथवा अरम्य को देखकर पाषाणवत सम स्थित रहना चाहिए । इतने ही अपने पुरुषार्थ से संसार की विजय होती है। यहां रम्यता और अरम्यता दोनों भाव अविधक हैं । इन दोनों को मिथ्या निश्चय कर अर्थात् इनका बाध कर के यानि अत्यन्त असत् समझ कर ही पाषाणवत समता आ सकती है । यानि सम भाव पूर्वक ज्ञान से संसार का अत्यन्ता भाव होता है ।

१४२८—गंगाजी के प्रवाह का, हवा, पशु, पक्षी आदि का जो भी शब्द सुनाई दे उसमें ऐसी भावना करे कि शब्द ही भगवान है । किसी प्रकार का भी शब्द सुनाई क्यों न दे, 'नाद ब्रह्म' शब्द को ही ब्रह्म समझे, जो कुछ सुनाई दे वह भगवान है । चाहे कोई गाली दे चाहे आशीर्वाद दे, दोनों को ही भगवान समझे । यदि गाली सुन कर हमें दुःख होता है तो फिर हम ने शब्द को भगवान कहाँ समझा ? भगवान समझने पर तो आनन्द ही आनन्द होगा। भगवान के दर्शनों से जो आनन्द हो, गाली सुनने से भी उसी आनन्द का अनुभव करें। इस बात से भी कल्याण हो जाता है ।

१४२९—तमाम दुनिया है खेल मेरा,
मैं खेल सब को खिला रहा हूं ।

किसी को गम में रुला रहा हूं,
किसी बेखुद बना रहा हूं ।

कभी मैं दिन को निकालु सूरज,
कभी मैं सबको दिखाउँ तारे ।

ये जोर मेरा है दोनों पांवों का,
मिसले फिरकी फिरा रहा हूं ।।

अक्स है सदमा भले बुरे का हो कौन तुम और कहाँ से आये।
खुशी है मेरी मैं खेल अपना बना बना के मिटा रहा हूं ॥
फिरो हो रूपे जमीं पे यारो तलाश मेरी में मारे मारे।
अमल करो तुम दिलों में देखो मैं नहने अकरब सुना रहा हूं ॥
किसी के गर्दन में तोफे लानत किसी के सिर पर है ताजे रहमत।
किसी को ऊपर बुला रहा हूं किसी को नीचे गिरा रहा हूं ॥

ॐ शांति शांति शांति

नया हिन्दुस्तान, प्रेस, चांदनी चौक, दिल्ली-६

पुस्तक मिलने के पते :—

(1) श्री रामलाल चड्ढा
5/6-डी, विक्रम नगर
नयी दिल्ली-1

(2) श्री रामलाल चड्ढा
D II/169, किदवई नगर (वैस्ट)
नयी दिल्ली-23

मूल्य रु. 4.00

प्रकाशक : रामलाल चड्ढा

121